332

श्रीमद् आचार्यवर भगवान श्रीकुंदकुंदस्वामि विरचित

रयणसार

अनुवादक—

श्री क्षुल्लक ज्ञानसागरजी महाराज

प्रकाशक—श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,
मंत्री-गांधी हरी भाई देवकरण ग्रंथमाला सचिव
भारतीय जैन सिद्धांतप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता।

Sethia Jain Library
BIKANER
Serial No
Index No

मुद्रक— श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
जैनसिद्धान्त प्रकाशक प्रेस
कलकत्ता

सूरि श्री शांतिसागराय नमः।

****

आद्य निवेदन

यह रयणसार नामक ग्रंथ प्राकृत भाषामें भगवान श्रीकुंदकुंद स्वामीने निर्माण किया है। इस छोटेसे सूत्र ग्रंथमें श्रावकधर्म व मुनिधर्मका रहस्य गम्भीर और मधुर भाषामें ओतप्रोत भरा हुआ है।

रयणसार दोहा की पद्यात्मक रचना जिन महानुभावने की है वह स्पष्ट कहा नहीं जाता है तो भी रयणसार दोहा मूल प्रतिमें "पं० सदासुखकृत रयणसार दोहा" ऐसा उल्लेख है। पं० सदासुखजीका विशेष परिचय अप्राप्त होनेसे विवेचन करनेमें असमर्थता है। दोहों की रचना छंद शास्त्रसे कहीं कहीं पर स्खलित है परंतु भावदृष्टिसे मार्मिक और हृदयहारिणी है।

—क्षुल्लक ज्ञानसागर

मुद्रक—श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
जैनसिद्धान्त प्रकाशक प्रेस
कलकत्ता

सूरि श्री शांतिसागराय नमः।

आद्य निवेदन

यह रयणसार नामक ग्रंथ प्राकृत भाषामें भगवान श्रीकुंदकुंद स्वामीने निर्माण किया है। इस छोटेसे सूत्र ग्रंथमें श्रावकधर्म व मुनिधर्मका गूढ रहस्य गम्भीर और मधुर भाषामें ओतप्रोत भरा हुआ है।

रयणसार दोहा की पद्यात्मक रचना किन महानुभावने की है यह स्पष्ट कहा नहीं जाता है तो भी रयणसार दोहा मूल प्रतिमें "पं० सदासुखकृत रयणसार दोहा" ऐसा उल्लेख है। पं० सदासुखजीका विशेष विवरण अज्ञात होनेसे विवेचन करनेमें असमर्थता है। दोहों की पद्यरचना छंद शास्त्रसे कहीं कहीं पर स्खलित है परंतु अर्थदृष्टिसे भावपूर्ण और हृदयहारिणी है।

—क्षुल्लक ज्ञानसागर

कीर्तिध्वनि।

झालरापाटननिवासी श्रीमान्सेठविनोदीराम बालचंदजीने स्वर्गीय सुपुत्र दीपचंदजीके ज्ञानावरणीय कर्म क्षयार्थ संस्थाको शास्त्रोद्धार करनेके लिये ५०१ रु० दिये थे। उसी द्रव्यसे "मकरध्वज पराजय" नामक नाटकका जीर्णोद्धार (प्रकाशित) हुआ था। उस ग्रंथकी लागत उठआने पर अब यह "रयणसार" नामक ग्रंथ उक्त सेठजीके स्मरणार्थ प्रकाशित किया जाता है।

यद्यपि इस समय उक्त स्वर्गीय सेठ दीपचंदजी सा० इस नश्वर पर्यायमें नहीं हैं परन्तु उनके अनुकरणीय दान और नामको ये ग्रंथ सदाही कीर्तित करते रहेंगे।

इस ग्रंथकी न्योछावर उठ आनेपर फिर अन्य किसी ग्रंथका जीर्णोद्धार होगा। इस तरह एक बार दिये गये दानसे सैकड़ों वर्ष पर्यंत जैन शास्त्रोंका प्रचार होता रहेगा। अतः इस परिपाटीसे लाभ उठानेकी इच्छा रखनेवाले और सुलभमें श्रीजैनशास्त्रोंका प्रचार चाहने वाले भाइयोंको अपनी अपनी शक्ति अनुसार किसीभी एक जैन शास्त्रके उद्धार करनेके लिये सहायता देनी चाहिये।

निवेदक

वैशाख वदी ११
वीर संवत् २४५८

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
आनरेरी मंत्री—भा० जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था



श्रीवीतरागाय नमः ।

रयणसार



णमिऊण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि रयणसारं, सायारणयारधम्मीणम् ॥१॥

[illegible]

[illegible] ॥१॥

अर्थ—श्री परमात्मा वर्धमान जिनेन्द्रदेवको मनवचनकायकी शुद्धिसे नमस्कार कर गृहस्थ और मुनिके धर्मका व्याख्यान करनेवाला 'रयणसार' नामका ग्रन्थ कहता हूं ॥१॥

पुव्वं जिणेहि भणियं, जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं ।
पुव्वाइरियक्कमजं, तं बोल्लइ जोहु सद्दिट्ठी ॥२॥

जो जिनवरने कहा, भाषा गणधर देव ।
अनुक्रम पूर्वाचार्यके, सम्यग्दृष्टि कहेव ॥२॥

अर्थ—सर्वज्ञ जिनदेवने अपनी दिव्यध्वनिसे यथार्थ उपदेश दिया था, चारज्ञानके धारक श्रीगणधर देवने उसीका विस्तार कर अल्पज्ञानी जीवोंको समझाया था। उसके बाद उत्तरोत्तर आचार्योंने उसी पदार्थका निरूपण किया, इस तरह पूर्वाचार्योंकी परंपरा चली आई। इस परिपाटीके अनुसार जो बोलता है, श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—श्री सर्वज्ञ जिनदेव और गणधरदेवके पीछे उत्पन्न होनेवाले आचार्योंने भी वीतरागभावसे सर्वज्ञके वचनोंका ही प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार जिन जिन भट्टारक

है और श्रद्धा करने योग्य हैं। उन वचनोंसे जीवोंका कल्याण होता है। जो सर्वज्ञदेवके वचनोंको वीतरागभावसे पक्षपात रहित प्रतिपादन करता है वह सम्यग्दृष्टी है। मोक्षमार्गानुसारी सत्य वचन कहनेवाला प्रामाणिक है किंतु जो मुनि ब्रह्मचारी या पंडित जिनागमके वचनोंको अपने विषय कषाय मान बड़ाई रागद्वेष और पक्षपातभावोंसे अन्यथा प्ररूपणा करता है, अर्थका विपरीत अर्थ करता है, वह मिथ्यादृष्टि जैनधर्मसे बहिर्भूत है।

मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोल्लई जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो ॥३॥

मति श्रुत ज्ञान सुबल सुच्छन्द, भाखै जिन उपदिष्ट।
जो सो होय कुदृष्टि नर, नहिं जिनमग रत इष्ट ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य मतिज्ञान या श्रुतज्ञानके अभिमानसे श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित धर्मको स्वच्छन्द (अपने मनकल्पित यद्वा तद्वा विरुद्धार्थ अथवा आगमके सत्यार्थको छिपा कर मिथ्या अर्थकर) कहता है वह मिथ्यादृष्टी है। वह जिनधर्मका पालन-

[redacted] हुआ भी जैनधर्मसे सर्वथा पराङ्मुख है, जैनधर्मसे बहिर्भूत है, मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ—जिनको बुद्धि व ज्ञानकी प्रखरता है परन्तु दर्शनमोहनीयकर्मका जिनके उदय है, ऐसे जीव जैनधर्मको धारण करके भी अपने ज्ञानके मिथ्या अभिमानसे श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित अर्थके स्वरूपको अन्यथा (आगमके विरुद्ध) कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टी हैं।

जो विषय कषाय मान बड़ाई आदि स्वार्थके वश होकर अथवा किसी कारणसे रागद्वेषके वश होकर अपने ज्ञानके अभिमानसे आगमके अर्थको अपने मनकल्पित अर्थके द्वारा अन्यथा प्रतिपादन करते हैं वे मिथ्यादृष्टी हैं।

स्वरूप-विपर्यास, भेद-विपर्यास, लक्षण-विपर्यास, कारण-विपर्याससे वस्तुका स्वरूप अन्यथा हो जाता है। जो रागी द्वेषी पक्षपाती मनुष्य कुशिक्षा प्राप्त कर ज्ञानके मदमें विवेक और विचार रहित हो कर विषयकषायोंकी पुष्टिके लिये जिनागमका अर्थ विपरीत करता है या अपने मन-कल्पित अर्थको जिनागमका स्वरूप बतला कर वस्तुस्वरूपमें विपर्यास उत्पन्न करता है [redacted] पापी है, जैनी हो कर भी जैनधर्मसे बहिर्भूत मिथ्यादृष्टी है। और जो मनुष्य सदाचारका-नीति-चारित्र और

स्वरूप बतला कर जिनागमको मारख ब कर जिनागम पर अवर्णवाद लगाता है, वह भी पापी जिनधर्मसे बहिर्भूत मिथ्यादृष्टी है।

जो मनुष्य तर्क या युक्तिके बल पर हिंसा झूठ और पापाचरणोंको धर्म सिद्ध करता है वह भी मिथ्यादृष्टी है तथा जो जिनागमको अपनी युक्ति पर ही सिद्ध करना चाहता है वह भी मिथ्यादृष्टी है।

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदो भेदं ॥ ४ ॥

समकित रतन सुसार मह, कह्यो मोक्षतरुमूल।
सो निश्चय अरु सरूपें, व्यवहार सु अनुकूल ॥ ४ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ही समस्त रत्नोंमें सारभूत रत्न है और वह मोक्षरूपी वृक्षका मूल है। सम्यग्दर्शनके निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन इस प्रकार दो भेद हैं।

भावार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंके निमित्तसे जीवोंके परिणामोंमें जो विशुद्धता प्राप्त होती है उससे आत्माकी प्रतीति आत्मानिरुचि और आत्मिक गुणोंकी

श्रद्धाका होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। तथा आत्माके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले सच्चे देव शास्त्र और गुरुका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, उन गुणोंमें एक सम्यग्दर्शन भी आत्माका गुण है। वह आत्माको अपनी आत्माके स्वभावमें स्थिर कराता है और उससे आत्मा अपने स्वरूपमें परिणमन करता है, अपने आत्मगुणोंमें अभिरुचि करता है और पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न समझ कर अपनाता नहीं है यही सम्यग्दर्शन है।

भयविसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्वण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥ ५ ॥

सात विसन भयमल रहित, विरत भोगभवदेह।
अष्टगुण पूरण पंचगुरु, भक्ति सुदर्शन एह ॥ ५ ॥

अर्थ -सात व्यसन, सात प्रकारके भय और पच्चीस शंकादिक दोषोंसे रहित तथा संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्तभाव और आठ निःशंकादिक गुणों सहित पञ्च परमेष्ठीमें

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी ।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥६॥

निज शुद्धातम अनुरक्त, बहिर अवस्था न कोइ ।
गुरुजन जिन मुनिधरम, सुमदिठि निरमदुख होइ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो विचारशील भव्यात्मा अपनी आत्माके शुद्ध स्वभावमें अनुरक्त (तन्मय) होता है और पर पदार्थजन्य पुद्गलोंकी शुभाशुभ पर्यायोंसे विरक्त होता है, जो श्रीजिनेन्द्र भगवान् निर्ग्रंथ (नग्न) गुरु तथा जिनधर्मको श्रद्धाभाव भक्तिपूर्वक मानता है वह संसारके समस्त प्रकारके दुःखोंसे रहित सम्यग्दृष्टी है।

भावार्थ—शुद्धबुद्ध ज्ञायकैक स्वभाव परमवीतराग आत्माके स्वभावमें तन्मय हो कर देव धर्म गुरुकी प्रतीतिसे वीतराग परिणतिमें स्थिर होनेकी भावना करना सो सम्यग्दर्शन है।

मयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं ।
जेसिं चउदालेदे ण संति ते होंति सद्दिट्ठी ॥७॥

भय मद मूढ़ानायतन, शंकादिक अतीचार ।
विसन जासु नहि चालचत्तु, सो समदिट्ठी सार ॥ ७ ॥

अर्थ– जिनके आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ शंकादिक दोष, सात व्यसन, सात प्रकारके भय और पांच अतीचार ये चवालीस दूषण नहीं हैं वे सम्यग्दृष्टी हैं।

उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचारभत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया * ॥ ८ ॥

अर्थ–आठ मूलगुण और बारह उत्तर गुणों (बारहव्रत–अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत)का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्वके दोषोंका परित्याग, बारह वैराग्यभावनाका चिंतवन, सम्यग्दर्शनके पांच अतीचारोंका परित्याग, भक्तिभावना, इस प्रकार दर्शनको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावकके सत्तर गुण हैं।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचित्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुव सिवसुहं पत्ता ॥ ९ ॥

* यह गाथा प्राचीन लिखित प्रतियोंमें नहीं है तथा दोहा कविने इसके दोहे नहीं बनाये हैं

पूजा शील उपवास व्रत, बहुधा अथ मुनिरूप।
समकित संजुत मोक्षसुख, बिन समकित भवकूप॥ १०॥

अर्थ-दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास अनेक प्रकारके व्रत और मुनिलिंग धारण आदि सर्व एक सम्यग्दर्शन होने पर मोक्षमार्गके कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शनके बिना व्रत तप दान पूजादि सर्व कारण संसारको ही बढाने वाले हैं।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि॥ ११॥

श्रावक धर्म सुधारतह, दान पूजमुख जानि।
ध्यानाध्ययन जती सुमुख, तिन बिन दुहू न मानि॥ ११॥

अर्थ-सुपात्रमें चार प्रकारका दान देना और श्री देव शास्त्र गुरुकी पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है। जो नित्य इन (दोनों) को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी है तथा ध्यान और जिनागमका स्वाध्याय करना मुनीश्वरोंका मुख्य धर्म है। जो मुनिराज इन दोनोंको अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ कर यथोचित पालन करता है वही मुनीश्वर

संलग्न है। यदि श्रावक दान नहीं देता है और न प्रतिदिवस पूजा करता है वह श्रावक नहीं है। जो मुनीश्वर ध्यान और अध्ययन नहीं करता है वह मुनीश्वर नहीं है।

भावार्थ—श्रावककी पहिचान (लक्षण) दान और पूजासे होती है और मुनि-श्वरोंकी पहिचान ध्यान और अध्ययनसे होती है।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगुण वहिरप्प जो पयंगो सो।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो ॥१२॥

दान न धर्म न न भोगगुण, सो पतंग बहिरात।
लोभ कषाय हुतासमुख, परे मरे विख्यात ॥१२॥

अर्थ—जो श्रावक सुपात्रमें दान नहीं देता है, न अष्टमूल गुणव्रत संयम पूजा आदि अपने धर्मका पालन करता है और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है वह बहिरात्मा है मिथ्यादृष्टी है। जैनधर्म धारण करने पर भी जैनधर्मसे बहिर्भूत है। वह लोभकी तीव्र अग्निमें पतंगके समान जल कर मरता है इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थ—जो श्रावक परस्पर विरोध रहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थको सेवन

करता है वह मोक्षमार्गमें संलग्न है, सम्यग्दृष्टी है। किंतु जो श्रावक मोहके वश हो कर धर्म सेवन नहीं करता है और सुपात्रमें दान नहीं देता है तथा न भगवानकी पूजा ही करता है किंतु खाना पीना आदि सर्व भूलकर केवल धन कमानेमें ही अपना जीवन पूर्ण करता है वह लोभी निरंतर हिंसा आरंभ आदि घोर पापोंको ही सेवन कर संसारमें भ्रमण करता है।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१३॥

पूजा करै जिन दान मुनि, देइ शकति अनुसार
समदृष्टी श्रावक धरम, सो उतरे भवपार ॥ १३ ॥

अर्थ— जो श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिवस देव, शास्त्र, गुरुकी पूजा करता है और सुपात्रमें चार प्रकारका दान देता है वह सम्यग्दृष्टी श्रावक है। दान देना तथा पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है। जो भक्तिभाव और श्रद्धा पूर्वक अपने धर्मका पालन करता है सो मोक्षमार्गमें शीघ्र ही गमन करता है। संसार समुद्रसे पार हो जाता है।

पूयाफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

मनशुध पूजे तासफल, त्रिजग ईस करि पूजि।
दान फले त्रैलोक मधि, नियमसार सुख मूजि ॥१४॥

अर्थ—जो शुद्ध भावसे श्रद्धा पूर्वक पूजा करता है वह पूजाके फलसे त्रिलोकके अधीश व देवताओंके इन्द्रोंसे पूज्य हो जाता है और जो सुपात्रमें चार प्रकार दान देता है वह दानके फलसे त्रिलोकमें सारभूत उत्तम सुखोंको भोगता है।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥१५॥

दीने भोजन मात्र दत, होत धन्य सागार।
पात्र अपात्र विशेष सत, दरशन कौन विचार ॥१५॥

अर्थ—भोजन (आहार दान) दान मात्र देनेसे ही श्रावक धन्य कहलाता है। पंचाश्चर्यको प्राप्त होता है, देवताओंसे पूज्य होता है। एक जिनलिंगको देखकर आहारदान देना चाहिये। जिनलिंग धारण करने पर पात्रापात्र की परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—सर्वप्रकारके परिग्रह और आरंभरहित नग्न दिगम्बर जिनलिंगको धारण करनेवाले मुनीश्वरों को आहारदान देनेके प्रथम यह विचार करना कि ये मुनीश्वर द्रव्यलिंगी हैं या भावलिंगी हैं। जबतक इनकी पूर्ण परीक्षा न होजायगी तब तक इनको आहार नहीं देना चाहिये। अथवा जिनलिंग धारण करनेवाले वीतराग निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों की परीक्षा कर आहारदान की प्रवृत्ति करना आदि समस्त विचार सम्यग्दृष्टीके लक्षणसे विपरीत भाव समझने चाहिये।

परम निस्पृह-वीतराग-आरंभ परिग्रह रहित मुनीश्वरोंके छिद्र देखना, अपनी बुद्धि और तर्कके द्वारा जिनलिंगके विषयमें आगमके विपरीत भावोंको प्रदर्शन कर जिनलिंग धारण करने वाले मुनीश्वरोंकी परीक्षा करना आदि सब मिथ्यात्वकर्मका उदय है। आहारदान प्रदान करनेके लिये इस प्रकार कुचेष्टाओंके द्वारा जिनलिंगको धारण करने वालोंके उत्साह और चारित्रको मंद करना भी मिथ्यात्वका कार्य है।

जिनलिंगको देखते ही उसको सुपात्र समझकर भक्ति भाव और श्रद्धा पूर्वक नवधा-गुणसे आहारादि दानको देना श्रावकका धर्म है। श्रावकके लिये श्रीकुंदकुंदभगवान् की यही आज्ञा है कि जिनलिंग ही सुपात्रका चिन्ह है। श्रावकको आहारदान देनेके लिये जिनलिंगको देखकर फिर यह द्रव्य लिंगी कुपात्र है इस प्रकारकी परीक्षा करनेका कोई भी अधिकार नहीं है और न इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ १६ ॥

दीजे दान सुपात्र गह, भोगभूमि सुरभोग ।
अनुक्रमतें निरवाल सुख, [illegible] जिन कथन नियोग ॥१६॥

अर्थ—सुपात्रको दान प्रदान करनेसे नियमसे भोगभूमि तथा स्वर्गके सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री-जिनेन्द्र भगवानने परमागममें कहा है।

खेत्तविसस काले ववियं सुवीयं फलं जहा विउलं ।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥ १७ ॥

ज्यों सुखेत शुभकाल जो, वपे बीज फलपूर ।
तेंव पात्र विशेष फल, जान सुदान अंकूर ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम खेतमें अच्छे बीजको बोता है तो उसका फल मनवाञ्छित पूर्णरूपसे प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्रमें विधिपूर्वक दान देनेसे सर्वोत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती है ॥१७॥

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥ १८ ॥

इह निज वित्त सुबीज जो, बपै जिनुक्त सतखेत ।
सो त्रिभुवनको राजफल, भोगि तीर्थंकर हेत ॥ १८ ॥

अर्थ—जो भव्यात्मा अपने (नीतिपूर्वक संग्रह किये हुये धन) द्रव्यको भी-जिनेन्द्र भगवानके कहे हुये सात क्षेत्रमें वितरण करता है वह पंचकल्याणकी महा विभूतिसे सुशोभित त्रिभुवनके राज्यसुखको प्राप्त होता है।

मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं ।
संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥ १९ ॥

मात पिता सुत मित्र तिय, धन पट वाहन मेव ।
विभवसार संसार सुख, जानो पात्रदत्त देव ॥ १९ ॥

अर्थ—माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि कुटुंब परिवारका सुख और धन धान्य [illegible] हाथी महल तथा महान विभूति आदिका फल एक सुपात्र दानका

सत्तंगरज्ज णवणिहि भंडारसडंगबलचउदहरयणं।

छण्णवदिसहसिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

सतराज अंग निद्धिनव, कोस शृंग षटसेन।

रतन दुसत त्रियछिनव, सहस जान पात्रदानेन ॥ २० ॥

अर्थ–सात प्रकार राज्यके अंग, नवनिधि, चौदह रत्न, माल खजाना, गाय हाथी घोडे सात प्रकारकी सेना, षटखंडका राज्य और छ्यानवे हजार रानी ये सर्व सुपात्र दानका ही फल है ऐसा समझना चाहिये।

सुकुल सुरूव सुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुसील सुगुणचारित्तं।

सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥ २१ ॥

सुकुल रूप लक्षण सुमति, शिक्षा सुगुण सुशील।

शुभ चारित्र सब अरु सुख, विभव पात्रदललील ॥२१ ॥

अर्थ–उत्तम कुल, सुंदर स्वरूप, शुभलक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोषशिक्षा, उत्तम शील, उत्तम उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र, उत्तम शुभलेश्या, शुभनाम और

समस्त प्रकारके भोगोपभोगकी सामग्री आदि सर्व सुखके साधन सुपात्रदानके फलसे प्राप्त होते हैं।

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२२॥

जो मुनि भोजन शेष भुक्, भाख्यो जिनवर देव।
भोगि सार संसारसुख, अनुक्रम शिव सुख लेव ॥ २२ ॥

अर्थ--जो भव्यजीव मुनीश्वरोंको आहारदान देनेके पश्चात् अवशेष अन्नको प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह संसारके सारभूत उत्तम सुखोंको प्राप्त होता है और क्रमसे मोक्षसुखको प्राप्त होता है ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवानने कहा है ॥

भावार्थ-जिस थालमें मुनिराजको आहारदान दिया है उस थालमें बचे हुए अन्नको मुनिराजका प्रसाद (गुरु प्रसाद) समझ कर सेवन करना चाहिये। 'दान-शासन' आदि कितने ही ग्रंथोंमें आचार्योंने यही [illegible] की है कि जिस [illegible]

कायकिलेसुववासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ॥ २३ ॥

शीत उसन अथवा विपुल, श्लेष्म परिश्रम व्याधि ।

कायक्लेश उपवासयुत, तिनहि दान आराधि ॥ २३ ॥

अर्थ—श्रीमुनिराजकी प्रकृति शीत है या उष्ण, वायु वातरूप है या श्लेष्मारूप है या पित्तरूप है। मुनिराजने कायोत्सर्ग और त्रिविध प्रकार आसनोंसे कितना श्रम किया है, गमनागमनसे कितना परिश्रम हुआ है, मुनिराजके शरीरमें ज्वर संग्रहणी आदि व्याधिकी पीड़ा तो नहीं है। कायक्लेश तप और उपवासके कारण मुनिराजके [illegible] आदिमें शुष्कता तो नहीं है इत्यादि समस्त बातोंका विचार कर उसके उपचार स्वरूप योग्य आहार औषधी दूध गर्मजल आदि देना चाहिये।

भावार्थ-मुनिराज की प्रकृतिको विचारकर और द्रव्यक्षेत्र कालके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर दान देना चाहिये। दाताके सातगुणोंमें सबसे मुख्य विवेकगुण माना है। विवेक और विचारके विना भक्तिमात्र श्रद्धा वश दान देनेसे विशेष हानि होने की संभावना और पापकर्मकी प्रवृत्ति होसकती है। मुनिराज को गर्मी और शुष्कता बढ

रही हो ऐसे समयमें यदि विवेक और विचारके बिना विरुद्ध गर्म पदार्थ दान दिया जाय तो वह दान विशेष हानिप्रद ही होगा। इसी प्रकार आहारकी सामग्री तैयार करनेमें विशेष हिंसा और मलिनताका विचार अवश्य ही रखना चाहिये।

हियमियमण्णं पाणं णिरवज्जोसहिणिराउलं ठाणं।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरवो ॥२४॥

हित मित भेषज पान भख, रहन निराकुल थान।
सज्या आसन उपकरन, जो दे शिवसुख मान ॥ २४ ॥

अर्थ—हित मित प्रासुक शुद्ध अन्न पान, निर्दोष हितकारी औषधी, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दानयोग्य वस्तुओंको सुपात्रकी आवश्यकतानुसार सम्यग्दृष्टी प्रदान करते हैं।

[illegible] (पुस्तकादि [illegible]) आदिको कहते हैं। शयनोपकरण—

भावार्थ—गुणात्रकी प्रकृति और द्रव्य क्षेत्र कालके निमित्तसे होनेवाले रत्न-त्रयकी शिथिलता एवं देवनिमित्तसे होनेवाले मोक्षमार्गके साधनके विघ्नोंको दूर करनेके लिये, मोक्षमार्गको सतत प्रकट करनेके लिये, धर्मकी प्रभावनाके लिये, जिन-शासनकी स्थिरताके लिये, असमर्थ गुणात्रोंके उत्साहकी वृद्धि और वात्सल्यभावके लिये हित मित भोजन पान, मठ आदि विश्राम स्थान औषधि और उपकरण आदि सम्यग्दृष्टीको प्रदान करना चाहिये। जो भव्य जीव द्रव्य क्षेत्र कालकी परिस्थितिको विचार कर उसके योग्य चार प्रकारका दान गुणात्रमें देता है वह मोक्षमार्गमें अग्र-गामी है।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणित्ता ।
गब्भब्भवेव मादा पिदुव्वाणिच्चं तहा णिरालसया ॥२५॥

अणगारह वैयावृत, करै जथा जो नित्य ।
मात पिता जैसें गरभ, पालै निरालस चित्त ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार माता पिता अपने गर्भसे होनेवाले बालकका भरणपोषण लालनपालन और सेवासुश्रूषा तनमनकी एकाग्रता और प्रेमभावसे करते हैं, सर्व-

प्रकारसे बालकको सुरक्षित रखते हैं, इसी प्रकार सुपात्रकी वैयावृत्य सेवासुश्रूषा आहार पान व्यवस्था निवासस्थान आदिके द्वारा पात्रकी प्रकृति कायक्लेश वातपैत्त आदि व्याधि और द्रव्यक्षेत्रकालके उपद्रवोंको विचार कर करनी चाहिये।

भावार्थ—यदि सुपात्र (मुनिमार्ग) सुरक्षित है तो धर्म सुरक्षित है। मुनिमार्गके पर धर्मका सर्व प्रकारसे लोप हो जाता है। गृहस्थधर्मकी स्थिरता भी पर ही अवलंबित है। जिनशासनका प्रकाश मुनिमार्गसे ही है इसलिये कार हो सके सर्व प्रकारके प्रयत्नोंसे मुनिमार्ग स्थिर करना चाहिये, मुनिमार्ग बढ़ाना चाहिये, सर्वप्रकारकी आपदाओंसे सुरक्षित और निराकुल बनाना चाहिये।

मुनिधर्मको सर्व प्रकारसे निराकुल करना ही वैयावृत्य है। मुनिधर्मका प्रभाव प्रकट करना सेवासुश्रूषा करना आहारदान देना औषधदान देना वसतिका दान देना सो सर्व वैयावृत्य है * ।

* हाथ पैर दबाना, मल मूत्र दूर फेंकना, लार कफ आदिको दूर करना आदि यह सर्व वैयावृत्य है तथा मुनिराजके स्थानको साफ करना, बीमारीमें टहल करना, सोनेके लिये घास [illegible] देना, आहार औषधी पीछी कमंडलु शास्त्र आदि उपकरण देना, [illegible]

लोहीणं दाणं जह विमाणसोहासमं जाणे ॥२६॥

सम्यग्दृष्टिके दानकी, कल्पवृक्ष फल सोभ।
लोभी धनिको दान ज्यों, शवविमान सम शोभ ॥२६॥

अर्थ—धर्मात्मा, सम्यग्दृष्टीका दान कल्पवृक्षके फलके समान महान शोभाको प्राप्त होता है और लोभी पुरुषका दान मृतक पुरुषके विमान (ठाठरी) के समान है।

भावार्थ—धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी पुरुषोंका सुपात्रमें दान, श्रद्धा, भक्ति और भावपूर्वक होता है इसलिये वह दान पंचाश्चर्य विभूतिके साथ स्वर्गमोक्षके महान फलको प्राप्त कराता है परन्तु लोभी पुरुषका दान मान बड़ाईकी इच्छासे दिया जाता है इसलिये वह मुर्देकी ठठरीके समान है।

जसकित्तिपुण्णलाहे देइ सुबहुगंपि जत्थ तत्थेव।
सम्माइ सुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२७॥

१—अपनी नाम बड़ाई और यशके लिये किये मिथ्यादृष्टी पुरुषोंको [illegible] के लिये दान [illegible] ही कारण है। [illegible]

जस कीरति शुभलाभको, जहं तहं बहुत सुदेहि।
भाजन सुगुण सुपात्रको, नहिं विशेष जानेहि ॥२७॥

अर्थ—लोभी अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति-यश मान बडाई और पुण्यलाभकी इच्छा से कुपात्र अपात्र आदि अयोग्य मिथ्या अनायतनोंमें बहुत दान देते हैं परन्तु उन को मकपक्तरत्नसे सुशोभित अनेक गुणोंकी खानि ऐसे सुपात्रकी पहिचानही नहीं है।

अर्थात् लाभ मान प्रतिष्ठा और पुण्यलाभके लोभमें पड़कर मिथ्यात्वकी वृद्धिके लिये मिथ्यामार्ग- में दान प्रदान करना सो भी संसारका ही कारण है। जैनयात्रा प्रतिष्ठा संघ रथोत्सव जिनमंदिर- निर्माण आदिके लिये प्रदान किया हुआ दान, मान बडाईके कारण विद्याश्रम स्कूल और बोर्डिंग आदिमें लगा देना भी संसारका ही कारण है। जिन जिन कारणोंसे जैनधर्मका ह्रास, देव शास्त्र गुरुका अवर्णवाद और चारित्रका लोप होता हो ऐसे कारणोंमें दान देना संसारका ही कारण है। कुशिक्षा, हिंसा, और पापके कार्योंमें दान देना भी अयोग्य है।

इसी प्रकार मान बडाईके लोभमें पात्र अपात्रकी परीक्षाका विचार किये बिना यद्वा तद्वा अपात्र कुपात्रमें दान देकर खुश होना और सत्पात्रकी निंदा करना आदि सब मिथ्यात्वकर्मके [illegible]

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवायपियवयणं ।
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥२८॥

जंत्र मंत्र तंत्र हि प्रवृत्ति, पक्षपात प्रियबैन ।
यहूं काल पंचम भरत, दान मोक्ष कछु हैन ॥२८॥

अर्थ—यंत्र मंत्र और तंत्रकी सिद्धि और जनतामें अपनी प्रवृत्ति, पक्षपातकी सिद्धि और खुशामदका लक्ष रखकर इस भरतक्षेत्र पंचमकालमें जो दान दिया जाता है वह दान मोक्षका साधक (मोक्षफलका देनेवाला) नहीं होता है।

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं ।
उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव होइ थिरं ॥२९॥

१-यंत्र मंत्र और खुशामदकी इच्छासे दान उत्तम फलका देनेवाला नहीं है। पक्षपातसे यदि पात्र दान अपात्रमें दिया हुआ दान उत्तम फलको प्राप्त नहीं करता है। खुशामदसे मिथ्या दृष्टी अपात्र कुपात्रोंमें दिया हुआ दान संसारका बढ़ाता है। इसी प्रकार केवल मान प्रतिष्ठाके लोभके लिये मिथ्यादृष्टी अपात्र और मिथ्या अनायतनमें दान देना संसारका कारण है।

दानीके दालिद किम, लोभी मह ईसत्व ।

दुहुन पूर्वकृत कर्मफल, होत विपाक महत्व ॥२९॥

अर्थ--दानी पुरुषोंको दरिद्रता और लोभी पुरुषोंको महान विभवकी प्राप्ति होना अपने अपने पूर्वजनितकर्मोंका फल है। इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि जबतक पूर्वकर्मोंके फलका उदय है तबतक अपनी अवस्थापर हर्ष या ग्लानि नहीं करे और न यह विचार करे कि मैं धर्मसेवन करते हुये भी दरिद्र क्यों होगया और पापी पुरुष धनवान क्यों होगये ?

भावार्थ--धर्मका सेवन सदैव सुखका प्रदान करनेवाला है। दानका फल सदैव सुखकर है परन्तु पूर्वजनित पापकर्मोंका फल जो इस समयमें उदयरूप होरहा है उसके निमित्तसे दरिद्रता आदि सर्व दुखकर सामग्री प्राप्त होजाय तो उसके भोगनेमें शोक और विषाद क्यों करना चाहिये ? परन्तु भावपूर्वक धर्मका सेवन विशेषरूपसे करना चाहिये जिससे पाप कर्मोंका उदय पुण्यरूप होकर परिणमन करे।

घणधण्णाइ समिद्धं सुहं जहा होइ भव्वजीवाणं ।

मुणिदाणाइ समिद्धं सुहं तहा त्त विणा दुक्ख ॥३०॥

धनधान्यादि समृद्धि सुख, ज्यों सुख जीवन होय।
त्यों मुनिदानहिंते सकल, सुख सिद्धि दुख बिन लोय ॥३०॥

अर्थ--जिस प्रकार धन धान्य आदि भोगोपभोग सामग्री और विभूतिसे सुखकी प्राप्ति होती है इसी प्रकार समस्त प्रकारके परिग्रह और आरंभ रहित वीतराग मुनीश्वरोंके दानके फलसे समस्त प्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं।

पत्त विणा दाणं न सुपुत्त विणा बहुधनं महाखेत्तं।
चित्त विणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥ ३१ ॥

पात्र बिन दान सुपुत्र बिन, बहुधन महा खेत।
चित्त बिना व्रतगुण चरित, जानि अकारन एत ॥३१॥

अर्थ-जिस प्रकार सुपुत्रके बिना महान विभूति महल और अपार धन व्यर्थ है। भावोंके बिना व्रत तप और चारित्रका पालन करना व्यर्थ है, इसी प्रकार सुपात्रके बिना दान देना व्यर्थ है।

सुपात्रमें स्वल्प भी दान उत्तम क्षेत्रमें बीजके समान महान फलको प्रदान करता है, नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती इन्द्र धरणेंद्रकी अतुल विभूतिको प्रदान

करता है और क्रमसे मोक्षसुखको भी देता है। परन्तु अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान संसारका बढ़ानेवाला और घोर दुःखका देनेवाला होता है॥

जिणुद्धारपत्तिठा जिणपूजातित्थवंदण विसेय।
धणं जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगयदुक्खं ॥३०॥

(१) श्री भगवान कुंदकुंद स्वामीने यहांपर निर्माल्यसेवनका पाप नहीं बतलाया है किंतु एक मनुष्यने श्रीजिनेन्द्रभगवानकी नित्यपूजा यावच्चन्द्रदिवाकर सतत कायम रहनेके लिये पांच हजार रुपये धर्मार्थ दान किये और उसकी व्याजमें भगवानकी नित्य पूजा होती रहे ऐसी भावना की और इसीलिये दान किया, परन्तु कालान्तरमें इस रकमको हजम करजाना और भविष्यमें होनेवाली पूजाका विध्वंस करना सो इसप्रकार पूजा प्रतिष्ठा तीर्थयात्रा व धार्मिक आयतनोंका द्रव्य खाजाना और भविष्य में होनेवाले धार्मिक कार्यको विध्वंस करदेना सो यह सर्व नरकगतिका कारण है। पूजामें अष्ट द्रव्य चढ़ाने के बाद जो निर्माल्य द्रव्य होता है उसका फल तो पूजक भव्य पुरुषने भगवान की पूजा करते ही प्राप्त करलिया। इसीप्रकार प्रतिष्ठा आदि के लिये संकल्प द्रव्यका फल भविष्यमें प्रतिष्ठा करते समय प्राप्त होगा

जिन उद्धार प्रतिष्ठा पूजा जिनकी करै। वंदन तीर्थ विशेष जास धनकौं हरै॥
भूंजै भोग अज्ञान काज धर्म नहिं धरै। कहिउ जिनेश सो पुरुष नरकके दुख भरै॥

अर्थ—श्रीजिनमन्दिरका जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मंदिर प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवानकी पूजा, जिनयात्रा, तीर्थयात्रा, रथोत्सव और जिनशासनके आयतनोंकी रक्षाके लिये प्रदान किये हुए दानको जो मनुष्य लोभ मोहवश ग्रहण करे, उससे भविष्यमें होनेवाले धर्मकार्यका विध्वमकर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महा पापी है ऐसा श्रीजिनराजने कहा है।

पुत्तकलित्तविदूरो दारिद्दो पंगु मूकवहिरंधो।
चंडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो॥ ३३॥

पुत्र कलित्र विना दलिद, पंगुमूकवहिरंध।
चांडालादि कुजाति हुइ, महदतधनहर मुंध॥ ३३॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठा तीर्थयात्रा आदिके लिये संरक्षित द्रव्यका अपहरण करता है वह पुत्र स्त्री आदि कुटुंब परिवारसे रहित होता है। दरिद्र पंगु मूक बहिरा अंधा होता है और चांडालादिक कुजातिमें उत्पन्न होता है।

इत्थीपफलं ण लब्भइ जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं ।
वाहीणमायसेसो पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३४ ॥

अर्थ-जो मनुष्य पूजाके निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्यका अपहरण करता है वह इच्छित फलको कदापि प्राप्त नहीं होता। उसके पुण्यका उदय कभी नहीं होता है। कदाचित इष्टवस्तुका संयोग प्राप्त हो जाय तो भी वह उसका फल भोग नहीं सकता।

गयहत्थपायणासिय कणउरंगलविहीणदिट्ठीए ।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूजादाणाइ दव्वहरो ॥ ३५ ॥

कर पद नासा करण, जो अंगुलि दिठि हीन ।
तीव्रदुखको मूल हुइ, पूजदान धनलीन ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठादिके निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्यका अपहरण करता है वह हाथ पद (पैर) नासिका कर्ण अंगुलि आदि रहित हीनांग होता है। आंखोंसे अन्धा होता है और तीव्रतर दुःखको प्राप्त होता है।

सयकुढमूलसूला लूयभयंदरजलोदराखिसिरो ।
सीदुण्हवाहिराइ पूजादाणंतरायकम्मफल ॥ ३६ ॥

कुष्ठशिन्ह क्षय मूल लूत जलोदमगं दर ।

... शिवकलमूल पूजदान अन्तरायफल ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य लोम मोहके वश होकर श्रीजिनेन्द्रभगवानकी पूजाके निमित्त दान किये हुए द्रव्यका अपहरण कर पूजादि धार्मिक कार्योंमें अंतराय करता है, विघ्न करता है, पुण्योत्पादक कार्यका विध्वंस करता है वह क्षय कोढ शूल लूता जलोदर भगंदर गलकुष्टि वात पित्त कफ और सन्निपात आदि रोगोंकी तीव्रवेदनाको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिनशासन और धर्मायतनोंको उद्योत करने वाले पूजा प्रतिष्ठा रथयात्रा तीर्थयात्रादि धार्मिक कार्योंके लिये प्रदान किये हुए द्रव्यको वह धार्मिक कार्य होनेके प्रथमही अपहरण कर धार्मिक कार्यमें अंतराय करना अथवा धार्मिक कार्योंकी व्यवस्थामें विघ्न करना, धार्मिक कार्योंमें दान देने वाले भाइयोंको रोकना, सुचारु रूपसे कार्य करने वाले धार्मिक कार्योंमें रोड़ा अटकाना, मन्दिरके छत्र चमर आदि

विभूतिका लोप करना मन्दिरकी द्रव्यसे आजीविका पर मन्दिरके कार्यको बंद करना आदि अनेक प्रकार पूजा और दानके कार्योंमें अंतराय करनेसे दुःख प्राप्त होता है।

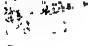
णरइतिरियाइदुरइदारिद्दवियलंगहाणिदुक्खाणि ।
देवगुरुसत्थवन्दणसुयभेयसज्झादाणविघणफलं ॥३७॥

अर्थ-जो मनुष्य देव-गुरु शास्त्रके उद्धार, वंदना और पूजा प्रतिष्ठा आदिके निमित्त होनेवाले दानमें अथवा प्रदान किये हुऐ दानमें, श्रुतकी वृद्धि पाठशाला विद्यालय और स्वाध्याय आदिके लिये दानमें विघ्न करता है उसको नरक तिर्यंच आदि दुर्गतिके दुःख और मनुष्यगतिमें दरिद्रता विकलांग तथा विविध प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं।

सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदानपरिहीणं ।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥ ३८ ॥

समकितसुध तपचरित, सतज्ञानदान परधान।
भरतकाल पंचमनुष, निहचै उपज महान ॥३८॥

अर्थ—इस दुस्सह दुःखम (कलिकाल) पंचमकालमें मनुष्योंके नियमपूर्वक



ण विजाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्णपावं हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ४० ॥

काज अकाज न जानही श्रेय अश्रेय पुन्य पाप ।
तत्व अतत्व अधर्म धर्म सो समकित बिन आप ॥४०॥

अर्थ—जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानके साथ अपना कार्य अकार्य, अपना हित अहित, तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म और पुण्य पापको नहीं जानता है वह सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टी है ।

ण विजाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवदेयं ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ४१ ॥

जोग अजोगह नित अनित, सत्य असत्य न जानि ।
हेय अहेय न भवि अभवि सो समकित बिन मानि ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य योग्य अयोग्य, नित्य अनित्य, हेय उपादेय, सत्य असत्य संसार और मोक्षको नहीं जानता है वह सम्यग्दर्शनसे न [illegible]

लोइय जणसंगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो ।
लोइय संगं तह्मा जोइ वित्तिविहेण मुंचाहो ॥ ४२ ॥

लौकिक जन संघात मह, मुखुर कुटिल दुरभाव ।
होइ संग ताते तजो, मन वच तनकर जाव ॥ ४२

अर्थ—लौकिक मनुष्योंकी संगतिसे मनुष्य अधिक बोलनेवाले (वाचाल) प्रचार कुटिल परिणाम और दुष्ट भावोंसे अत्यंत क्रूर हो जाते हैं इसलिये लौकिक मनुष्योंकी संगतिको मन वचन कायसे छोड़ देना चाहिये ।

भावार्थ—धर्माचरण विहीन—नास्तिक मनुष्योंकी संगति और उनकी कुशिक्षासे मनुष्य वाचाल हो जाते हैं । इससे वे पापकर्म-हिंसा झूठ चोरी और व्यभिचार आदि अनीतिके कार्य करनेमें जरा भी नहीं हिचकते हैं बल्कि उस कुशिक्षाके बमय से पापकर्म करते हुए अपनी सफाई खूब चतुराईके साथ पुकार पुकार कर गाते हैं । अपनेको जैन बतलाते हुए भी लौकिक जनकी संगतिसे जैनधर्मके विरुद्ध आचरण करते हैं । दुष्ट भावोंको रख कर अधर्मकी वृद्धि कर मिथ्यात्वको बढ़ाते हैं इसलिये लौकिक जनकी संगतिका परित्याग करना चाहिये ।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सादो दुरालावो ।
दुमदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउमुक्को ॥ ४३ ॥

उग्र तीव्र दुर्भाव दुठ दुःश्रुत दुर आलाप ।
दुरमत रत अविरुद्ध जिम सो विन समकित थाप ॥४३॥

अर्थ—उग्र प्रकृतिवाले, तीव्र क्रोधादि प्रकृतिवाले, दुष्ट स्वभाववाले, दुर्भाववाले, मिथ्या शास्त्रोंके श्रवण करनेवाले, दुष्ट वचनके कहनेवाले, मिथ्याभिमानको धारण करनेवाले, आत्मधर्मसे विपरीत चलनेवाले और अतिशय क्रूर प्रकृतिवाले मनुष्य सम्यक्त्व रहित होते हैं।

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठपिसुणो सगव्वित्थ असुइउ ।
गायणजायणभंडनदुस्सणसीलो दु सम्मउमुक्को ॥४४॥

क्षुद्र रुद्र रोषी पिशुन गरबी निंद्य अनिष्ट ।
गायण जाचक दोषकथ भंडन समकित नष्ट ॥ ४४ ॥

अर्थ—क्षुद्र प्रकृतिवाले, रुद्रपरिणामी, क्रोधी, चुगलखोर, कामी, गर्विष्ठ, असहनशील, द्वेषी, गायक, याचक, लड़ाई झगड़े करनेवाले, दूसरोंके दोषोंको प्रगट करनेवाले, निंद्य पापाचारी और मोही मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं।

वाणरगद्दहसाणगयवग्घवराहकराह ।
पक्खिजलूयसहाव णर जिणवरधम्मविणासु ॥४५॥

वानर गर्दभ अरु महिष गज श्वान वराह कराह।
पक्षि जलूक स्वभावनर जिनवर धर्म न लाह ॥ ४५ ॥

अर्थ—बंदरके स्वभाववाले, गदहाके स्वभाववाले, भैंसा हाथी श्वान सूकर कछुप पक्षी जलूकादि स्वभाववाले मनुष्योंके श्रीजिनेन्द्रदेवका धर्म धारण नहीं होता है।

कुतवकुलिंगकुणाणी कुवयकुसीलकुदंसणकुसत्थो ।
कुणिमित्त संथुय थुइ पसंसणं सम्महाणि होइ णियमं ॥ ४६ ॥

अर्थ—मिथ्यातपश्चरण करनेवाले, कुत्सित भेषको धारण करनेवाले, मिथ्याज्ञानकी आराधना करनेवाले, कुत्सित व्रताचरणोंको पालन करनेवाले, कुशीलसेवन करनेवाले, मिथ्यादर्शनके भाववाले, मिथ्याशास्त्रोंका पठन पाठन और स्वाध्याय करनेवाले, कुत्सित आचरण करनेवाले, मिथ्याधर्म, मिथ्यादेव और कुगुरुकी प्रशंसा करनेवाले मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं। उनके नियमपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणकिट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥४७॥

समकित बिन सतज्ञान सतचारित नियत न जोय ।
रत्नत्रय सम्यकगुण जिनकहि उत्तम होय ॥४७॥

अर्थ--सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नियमपूर्वक नहीं होते हैं। जिसके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय है उसके ही सम्यक्त्व गुण प्रशंसनीय हैं ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवानने कहा है।

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छसेव हो कट्ठं ॥ ४८ ॥

तनकुष्ठी कुलभंग ज्यों करे [redacted] ज्यों जानि ।
त्यों दानादिक सुगुण बहु करे मिथ्याती हानि ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोढी रोगवाला मनुष्य कुष्टके कारण अपने कुलको नाश करता है ठीक इसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव दान [illegible] चारित्र और धर्मात्माओंका विनाश [illegible]

मिथ्यात्वसे समस्त आत्मीयगुण नष्ट हो जाते हैं और सच्चे देव शास्त्र गुरु तथा धर्माचरणोंसे विपरीत भाव हो जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्वका सेवन करना संसार-के दुखोंका ही कारण है।

देवगुरुधम्मगुणचरित्तं तवायारमोक्खगइभेयं।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४९॥

देव धरम गुरु गुण चरित शुभ तप शिव गति भेव।
जिनवर वचन सुदिष्टि बिन अंधक सम्यक वेव ॥४९॥

अर्थ— सम्यक्दर्शनके विना देव गुरु धर्म क्षमादिक गुण, चारित्र तप मोक्ष मार्ग-तथा श्री जिनेन्द्र भगवानके वचन (जिनवाणी) को नहीं मानते हैं।

भावार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है उनके देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान भी नहीं है। तथा व्रत तप चारित्र और मोक्ष मार्गभी नहीं होता है।

एक्कु खणं ण विचिंतेइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं।
अणिसं विचित्तपावं वहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥ ५० ॥

खिन न चिंतय शिव निमित्त निज आतम सद्भाव ।
अह निश चिन्तय पाप बहु मन चिन्तइ आलाव ॥५०॥

अर्थ— मिथ्यादृष्टी जीव एक क्षणमात्रभी मोक्षकी सिद्धिके लिये अपने आतम-स्वरूपका चिन्तवन नहीं करता है, परंतु रात्रि दिवस पापके कार्योंका बारबार विचार करता है तथा परवस्तुकी निरंतर अभिलाषा करता है।

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोलए जह भुल्लो ।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥ ५१ ॥

मिथ्या मति मदमोहतैं भुल्ल बकत जिम मत्त ।
तैसे जानत नांहि निज अरु सम्भावहि तत्त ॥ ५१ ॥

अर्थ -मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्याबुद्धिके अभिमानसे मदोन्मत्त होकर मदिरा पान-करने वाले सुबलड मनुष्यके समान यद्वा तद्वा मिथ्या प्रलाप करते हैं। परंतु वे मोह-के उदयसे अपनी आत्माको नहीं जानते हैं

मिहरो महंधमारं मरुदो मेहं महावणं दाहो ।
वज्जो गिरिं जहाविय सिज्जइ सम्मं जहाकम्मं ॥५२॥

महाअंध्यारो रवि मरुत मेघ महावन दाह ।
पर्वत वज्र विनाशए समकित कर्म अपाह ॥५२॥

अर्थ-जिसप्रकार सूर्य अंधकारको तत्काल नष्ट कर देता है । वायु मेघका नाश करती है । दावानल वनको जला देता है । वज्र पर्वतोंको भेदन (चूर्ण) करदेता है उसी प्रकार एक सम्यक्त्व समस्त कर्मोंको नाश कर देता है ।

मिच्छंधयाररहियं हियमज्झं मिव सम्मरयणदीव कलावं ।
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं ॥५३॥

मिथ्या अंध्यारे गेह मधि दीपकला परगास ।
समकित मग प्रगटके दिपै तीन लोक जिन भास ॥५३॥

अर्थ- जो धर्मात्मा अपने हृदय-मन्दिरमें सम्यक्त्वरत्नरूपी दीपक प्रज्वलित करता है उसको त्रिलोकके समस्त पदार्थ स्वयमेव प्रतिभासित होते हैं ।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं य समं ।
लद्धो भुंजइ सोक्खं जहच्छियं जाण तह सम्मं ॥ ५४ ॥

कामदुधा तरुकल्प रससार रसायण चित।
मणि लाभे सुख भुजए इच्छित तिमि सम वित ॥

अर्थ--जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न और रसायणको प्राप्त कर मनवांच्छित उत्तमसुखको प्राप्त होता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-से भव्य जीवोंको सर्वप्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुख और समस्त प्रकारके भोग्योपभोग स्वयमेव प्राप्त होजाते हैं.॥

कतकफलभरियणिम्मल ववगय कालिया सुवण्णं ।
[illegible] जुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥ ५५ ॥

[illegible]) के संयोगसे जल निर्मल होजाता है ।
[illegible] रहित निर्मल होजाता है । उसी प्रकार
[illegible] रहित [illegible]

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पइसुदु णो देइ अहिणवं कम्मं ।
इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो ॥ ५६ ॥

पूरव थिति छोरै करम नव नहिं देत प्रवेश ।
देय महातम लोक द्वय उपसम भाव नरेश ॥ ५६ ॥

अर्थ—भव्य जीवोंको उपशम भाव पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है । (पूर्वबद्ध कर्मोंकी स्थितिका क्षय करता है) और नवीन कर्म बंध होने नहीं देता है (नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है) इसलिये उपशमभाव दोनों लोकमें अपूर्व माहात्म्य प्रगट करता है ।

सम्माइट्ठी कालं वोलइ वेरग्गणाणभावेण ।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेहिं ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते हैं । परंतु मिथ्यादृष्टी पुरुष दुर्भाव आलस्य और कलहसे अपना समय व्यतीत करते हैं ।

अज्जवि भरहे पउरा रुद्दट्टझाणया दिट्ठा ।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पाविट्ठा किण्हणीलकाउदा ॥ ५८ ॥

आज भरत अवसप्र सरपिणी प्रचुरातें अनिरुद्ध।

नष्ट दुष्ट पापिष्ट फल अशुभलेश्या जुत रुद्र ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकालमें दुर्ध्यानी रुद्रपरिणामी कृष्णादि अशुभ लेश्याके धारक क्रूर स्वभाव वाले नष्ट दुष्ट पापिष्ट और कठोर भावोंको धारण करनेवाले अधिक मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥

अज्जवि सप्पिणि भरहे दुस्ससया मिच्छपुव्वया सुलया।
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा दुल्लहा होंति ॥ ५९ ॥

अवसर्पिणि दुःखम भरत सुलभ पूर्वमिथ्यात।

समकित पूरव जति गृही दुर्लभ धर्म विख्यात ॥ ५९ ॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकालमें मिथ्यात्वी मनुष्य अधिक हैं। परंतु सम्यग्दृष्टी मुनीश्वर और गृहस्थ दुर्लभ हैं।

भावार्थ—जैनधर्मको धारण करनेवाले धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी गृहस्थ और मुनीश्वर अत्यन्त दुर्लभ हैं। मिथ्यामतको धारण करनेवाले मिथ्यात्वी अधिक हैं—गुणमाला

अज्जावसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदोत्ति।
जिणुदिट्ठं णहु मण्णइ मिच्छादिट्ठी हवे सोहु ॥ ६० ॥

कहूं अवसर्पिणि माहं बिन प्रमाद धर्मध्यान।
होत कह्यो जिन रहे जो कुदृष्टि नाहि मान ॥६०॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकालमें श्रीमुनीश्वरोंके प्रमाद रहित धर्मध्यान होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो इसको नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ—अप्रमाद अवस्था सातवें गुणस्थानमें होती है। भरतक्षेत्र पंचमकालमें सातवें गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरोंके प्रमाद रहित धर्मध्यान नियम पूर्वक होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने परमागममें कहा है। जो कोई इस पंचमकालमें सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज मुनीश्वरोंका अस्तित्व, तथा प्रमाद रहित धर्मध्यानको नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है, जिनधर्मसे बहिर्भूत है।

असुहादो णिरयाऊ सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुहसुहभावं जाणइ जं ते रुच्चेइ तं कुणहो ॥ ६१ ॥

अशुभभावतैं नरकगति शुभे सुरग सुख थाव।
दुखसुख भावह जानि तुम रुचै सु करि अनुराव ॥६१॥

अर्थ---अशुभभावसे नरकादि दुर्गति होती है। शुभ भावोंसे स्वर्गके अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। दुःख और सुखकी प्राप्ति अपने शुभाशुभ भावों पर ही निर्भर है। हे भव्य आत्मन्! जो तुझको अच्छा मालूम होता हो वह कर।

भावार्थ---अशुभ भाव करेगा तो दुःख होगा। शुभ भाव करेगा तो सुख होगा। इसलिये अशुभ भावोंका त्याग कर।

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणे सु पक्खवाएसु।
मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणवेसेसु असुहलेसेसु ॥६२॥
विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु य जो वट्टइए असुहभावो ॥ ६३ ॥

हिंसादिक क्रोधादि [illegible] मृषा ज्ञान पक्षपात।

अस्तिकाय पण द्रव्य षट् तत्व सात नव भाव।
बंध मोक्ष कारण सहब द्वादश भावन ध्याव ॥६४॥
रत्नत्रयहि स्वरूप अरु आरजि दयादि धर्म।
एते मारग वर्तई सो शुभ भाव सुसर्ग ॥६५॥

अर्थ—पंच अस्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थ, बंधमोक्ष, दयाक्रोध, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्जवभाव क्षमाभाव और सामायिकादि चारित्रमय जिन भव्य जीवोंके भाव हैं, वे शुभ भाव हैं।

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा।
इदि जाण किमिह वहुणा जंते रुचेइ तं कुणहो ॥ ६६ ॥

समकित गुणतें शुभसुगति दुर्गति देय मिथ्यात।
यह जानि भव्य जो रुचै करहु नियम अवदात ॥ ६६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जीवोंको नियमसे शुभगति होती है और मिथ्यात्वसे नियम पूर्वक दुर्गति होती है इसलिये हे भव्य! तुमको जो अच्छा लगे वह कर, अधिक क्या कहें।

री रहा, एक सम्यग्दर्शनके विना जिनलिंग भी संसारका नाश नहीं कर सकता है।

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठितणुदिट्ठी ।
मिच्छाभाव ण च्छिज्जइ । किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥ ६९ ॥

मोक्ष निमित्त दुख वहे तन दण्डी दिढि परलोक ।
मिथ्याभाव न छीजइ किम पावइ शिव थोक ॥६९॥

अर्थ -मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा जीवने मोक्षकी प्राप्तिके लिये वार वार अनेक प्रयत्न किये और व्रततपश्चरणके द्वारा शारीरिक अनेक कष्ट भी सहन किये परंतु मिथ्या भावोंका परित्याग नहीं किया इसलिये यह अज्ञानी आत्मा मोक्षके सुखको किस प्रकार प्राप्त [redacted] सक्ता है ?

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं ।
सप्पो किं मुवइ तदा वम्मिउ मारिउ लोए ॥ ७० ॥

कदि. दंड कोधादि तन दंड किये किम कर्मै ।

करता है और जो उपसर्ग आदिके द्वारा शरीरको दंड [कष्ट] देता है इससे तेरे कर्म नष्ट हो जायगे क्या ? कदापि नहीं । क्योंकि सर्पके बिलको मारनेसे सर्प नहीं मरता है।

उवसम भवभावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होई ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥ ७१॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ७१॥

अर्थ—उपशम भावसे जो [illegible] आदि [illegible] किये जांय तो वे [illegible] है। परन्तु [illegible] किये जांय तो भी वे [illegible] है।

भावार्थ—[illegible] होते हैं [illegible] उनके [illegible] होता है [illegible] परन्तु भावोंमें [illegible] परिणाम होनेसे असंयम भाव ही रहते हैं।

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलए अण्णाणी ।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

ज्ञानी खेंप ज्ञानबल कर्म न मान अज्ञान ।
पीजे भेषज ज्ञान यह व्याधि [illegible] इति मान ॥ ७२ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके बलसे कर्मोंको नष्ट कर देता है ऐसा जो कहता है सो अज्ञानी है क्योंकि बिना चारित्रके अकेले ज्ञानसे कभी कर्म नष्ट नहीं हो सकते। मैं सब औषधियोंको जानता हूं मैं एक अच्छा वैद्य हूं, ऐसा कहनेमात्रसे क्या व्याधियां नष्ट हो जाती हैं? कभी नहीं।

भावार्थ-जिस प्रकार रोग और औषधिके जानने मात्रसे व्याधि दूर नहीं होती उसी प्रकार अकेले ज्ञानसे कर्म नष्ट नहीं होते किंतु, जैसे औषधिको घोट छानकर पीनेसे व्याधि नष्ट होती है उसी प्रकार चारित्रसे कर्म नष्ट होते हैं।

पुव्वं सेयइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।

निष्यत्व शोधन प्रथम समकित भेषज सेव।
पीछे सेवह चरन रुच नाशन चारित देव॥

अर्थ–भव्य जीवोंको सबसे प्रथम मिथ्यात्वरूपी मलका शोधन सम्यक्त्वरूपी रसायनसे करना चाहिये। पुनः चारित्ररूपी औषधका सेवन करना चाहिये। इस-प्रकार आचरण करनेसे कर्मरूपी रोग तत्काल ही नियमपूर्वक नाश हो जाता है।

भावार्थ–सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और चारित्र निष्फल हैं कर्मोंका नाश सम्यक्चारित्रसे ही होता है। यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र है तो कर्मोंके नाश होनेमें कुछ भी विलंब नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी जबतक सम्यक् चारित्र पूर्ण-रूपसे प्राप्त नहीं है तबतक कर्मोंका नाश कदापि नहीं होगा और मिथ्यात्वके साथ चारित्र धारण किया जाय तो केवल संसारका ही वर्द्धक है कर्मोंका नाश करने वाला नहीं है। इसलिये सबसे प्रथम मिथ्यात्वका नाश कर चारित्र धारण करना चाहिये।

अप्पाणो विमयविरत्तादो होदसयमहस्सगुणो।
णाणी कसायविरदो नित्तयासत्तो जिणुदिट्ठं॥ ७४॥

समकिती निर्विषय कषाय बिन होय।
तातैं ज्ञानी विषय जुत जिन कहै लघु गुन सोय ॥ ७४ ॥

अर्थ — मिथ्यादृष्टी (अज्ञानी) जीव विषय और कषायोंसे विरक्त होकर फल प्राप्त करता है सम्यग्दृष्टी जीव विषय कषायोंको सेवन करते हुए भी उससे लाख गुणा फल अनायास ही प्राप्त कर लेता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने कहा है।

भावार्थ — विषय कषायको सेवन करते हुए भी सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको मिथ्यादृष्टी जिनलिंग धारीकी अपेक्षामें असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है। प्रथम तो मिथ्यादृष्टीको कर्मोंकी निर्जरा ही होती नहीं है कदाचित् वह मिथ्यादृष्टी मोहनीय कर्मके मंदोदयसे श्री जिनेंद्र भगवान कथित चारित्रको धारण कर लेवें और समस्त प्रकारकी विषय कषायका परित्याग कर देवे तो भी कर्मोंकी निर्जरा मिथ्यादृष्टीको नहीं होती है। हां, पुण्यकी प्राप्ति अवश्य ही होती है, इसलिये मिथ्यादृष्टीका विषय कषायोंका परित्याग कार्यकारी नहीं है और सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको विषय कषायका सेवन संसारके बंधका कारण उतना नहीं है।

जिणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्गविणा एदे दो वारिया भणिया ॥ ७५ ॥

त्यों गृहत्याग विराग बिन दुहनीत यह होय ॥७५॥

अर्थ—भक्तिके विना विनय, स्नेहके विना स्त्रियोंका रुदन, वैराग्य भावके विना त्याग, यह सब विडंबना है।

भावार्थ—भक्तिके विना विनय करना छल या विडंबना है, प्रेमके विना स्त्रियोंका रोना विडंबना है, उसीप्रकार वैराग्य उत्पन्न हुए विना घरका त्याग कर देना केवल विडंबना है।

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहियपरिसोहा।
वेरग्ग णाणसंजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते ॥७६॥

सुभट शक्ति बिन कामिनी बिन सोहाग सोभन।
संजम ज्ञान विराग बिन, ज्यों मुनि काजु न सरंत ॥ ७६ ॥

अर्थ—शूरवीर शक्तिके विना, स्त्री सौभाग्यके विना जिस प्रकार कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार संयम ज्ञान और वैराग्यके विना मुनीश्वर भी यथेष्ट सिद्धि नहीं प्राप्त करता है।

अर्थ—कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है और कौनसी वस्तु त्याज्य है इस प्रकार आत्महितके लिये सम्यक् विचार कर एवं संसार शरीर भोगोपभोग पदार्थोंसे विरक्त होकर जो जिनलिंगको धारण कर तपश्चरण [ध्यान] करता है वह मोक्षके सुखका अधिकारी है। सत् असत् योग्य अयोग्य हित अहित प्राप्त अप्राप्त वस्तुके विचार रहित केवल बाह्य सुखका परित्याग करनेसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति नहीं होती है।

भावार्थ—जिनको आत्माका परिज्ञान है स्वानुभव है और जिन्होंने भेद विज्ञान द्वारा आत्मीय और अनात्मीय वस्तुका विचार कर आत्मीय क्षमा मार्दव आदि गुणोंको धारण कर पर पदार्थ अनात्मीय कर्म चेतन और कर्म फल चेतनाका परित्याग कर दिया है तथा संसारके स्वरूपको हेय व दुखकारी समझकर वैराग्यभावसे जिन लिंगको धारण कर कठिन व्रत तपश्चरणके द्वारा कर्ममलको दूर कर दिया है वे ही मोक्ष सुखके अधिकारी हैं। किंतु जिनको आत्मज्ञान नहीं है न हेयाहेयका विचार है केवल बाह्य सुखका त्यागकर साधु बन गये हैं वे कठिन तपश्चरण करते पर भी मोक्ष सुखके कदापि अधिकारी नहीं हैं।

करम न क्षयै न ममा पर जो विन सम्यक मुक्त।
लिंग धरत्तु मरतपति जनु सो जिय खेद प्रयुक्त ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो जीव परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह जीव न तो गृहस्थ अवस्थामें है और न साधु अवस्थामें है केवल लिंगको धारण कर क्या करते हैं। कर्मोंका नाश तो सम्यक्त्व पूर्वक जिन लिंग धारण करनेसे ही होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनको विना धारण किये व्रत तप आचरण और साधु अवस्था व्यर्थ है, संसारको बढाने वाली ही है। संसारमें अनेक मनुष्य साधुका भेष धारण कर अपनेको महंत मान कर अनेक प्रकारके प्रपंच रच कर संसारके जीवोंको ठगते हैं और विषय कषायोंसे अपनी आत्माको ठगते हैं। वे कर्मोंका नाश नहीं कर सके हैं। वे ब्रह्म (आत्मा) को नहीं जान सके हैं। इसलिये सम्यग्दर्शनको धारण कर आत्माके स्वरूपको सबसे प्रथम जानना चाहिये पुनः दीक्षा ग्रहण करना चाहिये।

अप्पाणं पिणपिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ ण भावेइ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घित्तूण किं करई ॥८८॥

आत्माको कर्मजन्य दुःखका भार है ही और जब यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूप टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव आत्माको जान लेता है, अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त हो जाता है उसी समय अनंत सुखको स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। इसीलिये मुनिगण शुद्धस्वरूप अपने आत्मस्वभावका ध्यान करते हैं, अपने शुद्धस्वरूपमें तन्मय हो जाते हैं और मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ-जबतक अपनी आत्माके शुद्धस्वरूपकी भावना नहीं है, स्वस्वरूपकी प्राप्ति नहीं है और जबतक अपने भावोंकी स्थिरता अपनी आत्माके शुद्धस्वरूपमें दृढतासे नहीं है तबतक जिनलिंग धारण कर कठिन तपश्चरण करना उत्तम सुखका कारण नहीं है। इसलिये स्वात्मस्वरूपको जानकर तपश्चरण करना स्वेष्टसिद्धिके लिये लाभदायक है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि अपने आत्मस्वरूपको जाने विना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। जिनलिंगको धारण कर अभव्यजीव भी नवम-ग्रैवेयिक पर्यन्त उत्तम अहमिन्द्रोंके सुख प्राप्त कर सके हैं। जिनलिंग धारण करनेका माहात्म्य ही अद्भुत और लोकोत्तर है। जो पुरुष किसी भी

* जिनेंद्र [illegible]

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भव्य जीव ही जिन लिंगको धारण कर मोक्षके अधिकारी हैं। निर्वाणप्राप्तिकी योग्यता सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आत्माके स्वरूपको जाननेसे ही होती है। जिनने आत्माके स्वरूपको जाना है उनने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है। इसलिये तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति और निर्दोष परिज्ञान आत्माके स्वरूपको जाननेवाले भव्यात्माको ही है और उनको ही सम्यग्दर्शन है।

पवयणसारब्भासं परमप्पाज्झाणकारणं जाणं।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खं हि ॥९१॥

प्रवचनसार अभ्यास विदि परम ध्यानको हेत।
ध्यान धर्म खेपै करम खिपै मोक्ष सुखदेत ॥९१॥

अर्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका अभ्यास ही परमश परमात्माके ध्यानका कारण है। विशुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान ही कर्मोंका नाश व मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिये प्रधान कारण है।

है। परिणामोंकी विशुद्धता हुए विना आत्माके भाव अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपमें कदापि एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रह सके हैं। मोहोदयसे जीवोंके भावोंमें राग द्वेष की मलिन परिणति नियमपूर्वक अवश्य ही होती है और राग द्वेषसे आर्त रौद्र अप्रशस्त ध्यान दुर्गतिके कारण होते हैं।

सालविहीणो राउ दाणदया धम्मरहिय गिह सोहा।
णाणविहीण तवो विय जीवविणा देह ।ोहं च ॥ १२ ॥

साल राज विन दान दय धर्म रहित गृह देखि।
ज्ञान हीन तप जीव विन देह सोभ ज्यों पेखि ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार परिकोटा (नगररक्षाका कोटा) के विना राजाकी शोभा, दान दया और धर्मके विना गृहस्थकी शोभा, जीवके विना मृतक शरीर की शोभा निष्फल है उसी प्रकार ज्ञानके विना तपकी शोभा भी निष्फल है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानके साथ तपश्चरण कर्मोंके नाशका कारण है। अनेक प्रकार-की ऋद्धि, मघवा सर्वलोककी पूज्यता आदिका कारण भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक तप-श्चरण ही है।

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किंपि।
णाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खो ॥१४॥

ज्ञानाभ्यास बिन स्वपर तत्त्व न कुछ जानंत।
ध्यान न होइ न कर्मक्षय मोक्ष न है तावंत ॥ ९४ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानके अभ्यास विना यह जीव भेद विज्ञानको प्राप्त नहीं होता है। आत्मतत्त्व और परतत्त्वको सर्वथा ही नहीं जानता है। स्वपरके ज्ञान विना ध्यान नहीं होता है और सम्यक् ध्यानके विना कर्मोंका क्षय और मोक्ष कदापि नहीं होती है। इसलिये सम्यग्ज्ञानका अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ—मिथ्या शास्त्रोंके अभ्याससे आत्मामें मिथ्या श्रद्धान पूर्वक कुतत्त्वका ही ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। जीवोंको मिथ्या शास्त्रोंका अभ्यास प्रत्यक्षमें ही गृहीत मिथ्यात्वको बढ़ानेवाला और धर्मकर्मसे शून्य बनानेवाला है। नास्तिकताके भाव और बुद्धिमें मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति करानेवाला है। जीवोंको जितनी बड़ी भारी हानि मिथ्याशास्त्रोंके अभ्याससे होती है उतनी हानि कुदेव सेवन हिंसा झूंठ और पापाचरणके सेवन करने से नहीं होती है क्योंकि मिथ्या- [illegible]

मनका वशीकरण और कषायोंका उपशम होता है इसलिये पंचमकाल भरतक्षेत्रमें एक जिनागमका ही अभ्यास करना श्रेष्ठ है। कर्मोंके नाश करनेका यही मूल कारण है।

भावार्थ-श्री जिनेन्द्र भगवानका प्रणीत सत्यार्थका प्रकाश करनेवाला आगम है। जिनागमके अभ्याससे भावश्रुत और द्रव्यश्रुतकी प्राप्तिके साथ मन और इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह होता है और विषय कषाय तथा काम क्रोध मान माया राग द्वेषादि विकारभावोंसे आत्माकी परणति रुक जाती है इसप्रकार राग द्वेषकी परणतिका संरोध होनेसे आत्मा अपने शुद्ध स्वसमयरसमें तल्लीन हो जाता है। स्वात्मस्वभावमें स्थिर होना ही ध्यान है।

धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण भाव सुद्धेण।
परमप्पज्झाणचेनो तेणेव खवेइ कम्माणि ॥ ९६ ॥

धर्मध्यान अभ्यास करि भाव शुद्ध त्रिविधेन।
चेष्टा आतमध्यानकर कर्म खपत है तेन ॥

अर्थ—मन वचन कायकी विशुद्धतासे अपने आत्माके परिणामोंको होने पाके

पापारंभ निवृत्ति द्वय प्रवृत्ति पुण्य आरंभ।
धरम ध्यान यही ज्ञानको जिन [illegible] जीवन थंभ ॥ ९७ ॥

अर्थ—पाप कार्यकी निवृत्ति और पुण्य कार्योंमें प्रवृत्तिका मूलकारण एक सम्यग्ज्ञान है। इसलिये मुमुक्षु जीवोंके लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान श्रीजिनेन्द्र देवने कहा है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानसे तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म, पुण्य पाप, हित अहित, योग्य अयोग्य, कर्तव्य अकर्तव्य, ग्राह्य और अग्राह्यका बोध होता है। भव्य जीव सम्यग्ज्ञानसे अपनी आत्माका शुद्ध स्वरूप विचार कर अपने आत्मपरिणामोंको छोड़कर पर पदार्थों पर राग द्वेष नहीं करते हैं और न विषय कषायोंकी सिद्धिके लिये इष्टानिष्ट बाह्य पर पदार्थोंमें शुभाशुभ संकल्प विकल्प ही करते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञानी पुरुषकी स्वाभाविक स्वयमेव ऐसी विशुद्ध परणति हो जाती है कि जिससे उनकी हिंसादिक पाप कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं होती है। वे पुण्योत्पादक शुभ चारित्र की निरन्तर प्रवृत्ति करते हैं। इसीलिये सम्यग्ज्ञानसे जीवोंके भावोंमें साम्यभावकी स्थिरता प्रकट होती है। राग द्वेषादि विभावभावरहित साम्य अवस्था ही धर्मध्यान है।

जो अज्ञान भावका प्रकट करनेवाला है। ऐसे महान विशाल ज्ञानसे यतीश्वरोंको* भी वस्तुस्वरूपका यथार्थबोध कदापि नहीं होता है। बल्कि मिथ्याज्ञानभावसे उनका तपश्चरण भी आत्मबोध रहित होनेसे संसारका ही कारण होता है।

---

* [redacted] कि [illegible] भी मिथ्याज्ञानी [illegible] अभ्यास [illegible] नष्ट करनेवाला और [illegible] कारण है [illegible] मिथ्याशास्त्रोंका [illegible] तो केवल पापकार्योंका ही प्रधान [illegible] समझना चाहिये। [illegible] मुख्यकारण [illegible] अभ्यास है। [illegible] मिथ्याशास्त्रोंका अभ्यास कर [illegible] या [illegible] बनते हैं वे हिंसाहिंसके [illegible] पापकार्योंको प्रवृत्ति कराने वाले और आत्मज्ञानसे शून्य होते हैं। [illegible] नहीं होता है। वे मिथ्याज्ञानियोंके [illegible] हित समझने हैं। [illegible] मिथ्याशास्त्रोंका पठनपाठन कर महान पाप संपादन कर अनेक जीवों [illegible] पापकार्योंमें ही [illegible] लगाते हैं। इस [illegible] और मिथ्याज्ञानका [illegible] है। [illegible]

बारह भावनाओंके द्वारा तत्त्व स्वरूपका विचार करनेवाले ज्ञानी भव्य जिनलिंग धारक मुमुक्षु यतीश्वर होते हैं।

भावार्थ—यतीश्वरोंका स्वरूप चार लक्षणोंसे प्रकट होता है। यतीश्वर विकथादि पापजन्य बातें और परिग्रह विषय कषायोंको बढ़ानेवाली किस्सा कहानियां नहीं करते हैं। आधादि कर्मके दोषोंसे उत्पन्न हुए आहारको ग्रहण नहीं करते हैं। उनका समय जिन शासन की वृद्धिके लिये निरंतर धर्म देशना (धर्मोपदेश) में ही व्यतीत होता है और वे सतत बारह भावनाओंसे संसार–शरीर भोग आदिकसे विरक्त होकर अपने आत्मतत्त्वके विचारमें लीन रहते हैं।

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मल सहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥१०१॥

अविकल्पी निरद्वंदनर मोह निय न निष्कलंक।
निर्मल शुद्ध सुभाव मुनि सो योगीश निसंक ॥१०१॥

अर्थ—परमोत्कृष्ट मुनीश्वरका स्वरूप बतलाते हैं। जो यतीश्वर शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित है, निर्द्वंद्व है निर्मोह है, निष्कलंक है, अपने स्वरूपमें स्थिर है और निर्मल स्वभाव •

भावार्थ —उत्तम संहननके धारक और मूलगुण तथा उत्तर गुणोंके प्रतिपालक यथार्थ मोक्षकी प्राप्ति करनेवाले यतीश्वरोंका स्वरूप बतलाते हैं—जो यतीश्वर समस्त प्रकारके उपसर्ग व समस्त प्रकार की परीषहके दुखोंका अनुभव न कर अपने स्वात्म-शुद्ध स्वभावमें स्थिर रहते हैं, वचन गुप्तिका पालन करते हैं द्वादशांग श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं, शुभध्यानमें तत्पर रहते हैं और परिग्रहरहित जिनलिंगको धारण करते हैं वे ही परम यतीश्वर हैं।

यद्यपि मुनीश्वरोंका बाह्य स्वरूप जिनलिंग ही है जिन भव्य मुमुक्षु जीवोंने परिग्रह का परित्याग कर निःशल्यभावसे जिनलिंग (नग्न दिगम्बरत्व) को धारण कर मूल-गुणकी आराधना की है वे ही मुनीश्वर हैं। सामान्यरूपसे सर्व मुनीश्वरोंके उत्तम संहनन नहीं होता है। जिन मुनीश्वरोंको उत्तम वज्रवृषभनाराच संहनन है। वे उपसर्ग व समस्त प्रकारकी परीषहोंको सहन कर साम्यभावकी प्राप्ति करते हैं, द्वादशांगके पाठी और भावश्रुतके धारक होते हैं।

[illegible]

आवश्यकता है क्योंकि निर्मल आत्मामें ही आत्माका अनुभव होता है। जो आत्मा राग-द्वेषसे मलिन है उसमें आत्माका अनुभव कभी नहीं हो सकता। इसलिये साधुओंको सबसे पहले अपने रागद्वेष आदि दोषोंका त्याग कर आत्माको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे अपने आत्माका अनुभव हो सके।

दंडत्तयसल्लत्तयमंडियमाणो असूयगो साहु ।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे ॥१०५॥

दंडशल्यत्रय मुंडियो निंदक साधु जु होय ।
भंडण जाचण शील है हिंडे बहुभव सोय ॥ १०५ ॥

अर्थ--जो मुनि मन वचन कायको अपने वशमें नहीं रखते, माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको धारण करते हैं जो दूसरोंसे ईर्ष्या धारण करते हैं जो लड़ाई झगड़ा करते हैं और याचना करते हैं वे साधु इस संसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करते हैं।

देहादिए अणुरचा विसयासचा ‹ःसायसंजुचा ।

सर्वज्ञको उपदेश यह सो नहिं शिव सुखभुक्त ॥१०३॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाले भावोंको धारण करता है परंतु काय क्लेश अत्यंत तीव्र करता है। ऐसा जीव भी मोक्ष सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। यही सर्वज्ञ देवका उपदेश है। अभिप्राय यह है कि तीव्र तपश्चरण करने पर भी जब तक मिथ्यात्वको धारण करता है तबतक उसे कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

रायाइमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सये किं पि।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा णेयं ॥ १०४

रागादिक मल जुगत निज रूप तनक ना दीख।
समल आरसो रूप जिम नाहिं जथावत दीख ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अपना यथार्थ रूप दिखाई नहीं देता उसी प्रकार जिनका आत्मा राग द्वेष आदि दोषोंमें मलिन हो रहा है उस मलिन आत्मामें आत्माका यथार्थ स्वरूप कुछ भी दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ—अपना शुद्ध आत्माका अनुभव करनेके लिये आत्माके निर्मल होनेकी

आवश्यकता है क्योंकि निर्मल आत्मामें ही आत्माका अनुभव होता है । जो आत्मा राग-द्वेषसे मलिन है उसमें आत्माका अनुभव कभी नहीं हो सकता । इसलिये साधुओंको सबसे पहले अपने रागद्वेष आदि दोषोंका त्याग कर आत्माको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे अपने आत्माका अनुभव हो सके।

दंडत्तयसल्लत्तयमंडियमाणो असूयगो साहु ।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे ॥१०५॥

दंडशल्यत्रय मंडियो निंदक साधु जु होय ।
भंडण जाचण शील है हिंडे बहुभव सोय ॥ १०५ ॥

अर्थ—जो मुनि मन वचन कायको अपने वशमें नहीं रखते, माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको धारण करते हैं जो दूसरोंसे ईर्ष्या धारण करते हैं जो लड़ाई झगड़ा करते हैं और याचना करते हैं वे साधु इस संसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करते हैं।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
[illegible] ॥ १०६ ॥

सोवत ध्यान सुभावतें सो मुनि समकित मुक्त ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो मुनि शरीर भोग वा सांसारिक कार्योंमें अनुरक्त रहते हैं, जो विषयोंके सदा आधीन रहते हैं, कषायोंको धारण करते हैं और अपने आत्माके स्वभावमें सदा सोते रहते हैं, आत्माके स्वभावको प्रगट करनेमें कभी जागृत नहीं होते ऐसे मुनियोंको सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिये।

आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंखिया तहा सूया।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा ॥ १०७ ॥
संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहियगुरुकुला मूढा।
रायाइसेवया ते जिणधम्मविराहिया साहू ॥१०८ ॥

है आरंभ धनधान उपकरणइच्छ अरु जाच।
व्रतगुणशील विना कलह प्रिय कषाय बहुवाच ॥१०७॥
मूढ कुशील विरोधसंघ गुरुकुल रहे स्वछंद।
राजसेव कर जिन धरम है विरोध मुनिमंद ॥१०८॥

अर्थ—जो मुनि होकर भी किसी आरंभकी, धनकी, धान्यकी वा किसी उपकरणकी इच्छा करते हैं, जो अन्य साधुओंसे ईर्ष्या करते हैं, जो व्रत समिति गुप्ति तथा शीलसे रहित हैं, जो कषायके वशीभूत हैं, कलह करनेवाले हैं और बहुत बोलते हैं, जो सबसे विरोध करते हैं, कुशीलता धारण करते हैं, जो गुरुके आधीन न रह कर स्वतंत्र रहते हैं, गुरुके समीप नहीं रहते अथवा गुरुकी आज्ञानुसार नहीं चलते, जो अज्ञानी हैं और राजादिककी सेवा करते हैं उन साधुओंको जिनधर्मके विरोधी समझना चाहिये।

जोइसविज्जामंतोपजीवणं वा य वस्सववहारं।
धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ॥१०९॥

ज्योतिषविद्या मंत्र उपजीवन वर्ष व्योहार।
धनधान्यादिक प्रतिग्रहण मुनिदूषन परमाद॥

अर्थ—जो मुनि ज्योतिषशास्त्रसे वा किसी अन्य विद्यासे वा मंत्र तंत्रोंसे अपनी उपजीविका करता है, जो वर्षतकके व्यवहार करता है और धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला होता है।

कहलाती है। जिस प्रकार किसी गढ़ेको मिट्टी कूड़ा आदि चाहे जिससे भर देते हैं उसी प्रकार इस पेटको अच्छे बुरे चाहे जैसे आहारसे भर लेना श्वभ्रपूरण विधि है। भ्रमर जिस प्रकार फूलोंको कष्ट न देता हुआ उनका रस लेता है उसी प्रकार किसी भी गृहस्थको कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है। इस प्रकार इन आहारकी विधिओंको जान कर इनके अनुसार आहार ग्रहण करना चाहिये।

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमि बहुलं।
गंध मसुइ चम्ममयमणिच्चमचेयणं पउणं ॥११५॥
दुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो।
ण चेदि पोसए भिक्खु। ११६॥

मलमुत्र।
अचेतन जुत्त ॥ ११५ ॥
त्मा देह।
॥ ११६ ॥

पापना कर आहार लेता है, या संक्लेश परिणामोंको धारण करता हुआ आहार लेता है, अपने रौद्र परिणामोंसे आहार लेता है या क्रोध करता हुआ आहार लेता है। वह साधु नहीं है किंतु उसे व्यंतर समझना चाहिये।

भावार्थ—व्यंतर नीच देव होते हैं। क्रोध कलह करना, रौद्र परिणाम धारण करना, संक्लेश परिणाम करना आदि उनका कार्य रहता है। मुनियोंका यह कार्य नहीं है। इसलिये जो मुनि होकर भी ऐसे मलिन परिणाम रखता है वह नीच व्यंतरके समान है।

दिव्वुत्तरणसरित्थं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥ ११८ ॥

दिव्य तिरन सम जानिये शुद्ध है धार अहार।
तपत लोह सम पिंड तुज मुनिवर करतलि धार ॥ ११८ ॥

अर्थ—हे मुनिवर! तेरे हाथपर रक्खा हुआ आहारका पिंड यदि तपाये हुए लोहेके गोलेके समान अत्यंत शुद्ध है तो तू उसे संसारसे पार करदेनेवाला समझकर ग्रहण कर।

अर्थ—यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, वीर्य, मल, मूत्र, पीव और अनेक प्रकारके कीड़ोंसे भरा हुआ है। इनके सिवाय यह शरीर दुर्गंधमय है, अपवित्र है, चमड़ेसे लपेटा हुआ है अनित्य है, जड़ है और नाश होनेवाला है। यह शरीर अनेक प्रकारके दुःखोंका पात्र है, कर्म आनेका कारण है और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसे शरीर को मुनिराज कभी पालन पोषण नहीं करते हैं किंतु यही शरीर धर्मानुष्ठानका कारण है। यही समझ कर इस शरीरसे धर्म सेवन करनेके लिये और मोक्षमें पहुंचनेके लिये मुनिराज इसको थोड़ासा आहार देते हैं बिना आहारके यह शरीर चल नहीं सकता और बिना शरीरके धर्मानुष्ठान हो नहीं सकता वा चारित्र पालन हो नहीं सकता इसीलिये इसको आहार देकर इससे चारित्र पालन कराया जाता है। मुनिराजोंके आहार ग्रहण करनेका यही कारण है और कुछ नहीं।

कोहेण य कलहेण य जायण सीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं जिनरो भिक्खु ॥ ११७ ॥

क्रोधेन कलहेन वा याचित्वा संक्लेशेन परिताप्य।
रुद्रेण च रोषेण च भुंक्ते किं जिनवरो भिक्षुः ॥ ११७ ॥

अर्थ—जो मुनि क्रोध दिखलाकर आहार लेता है, कलह कर आहार लेता है।

अविरत देश महाविरत श्रुति रुचिरत्व विचार।
पात्र सु अंतर सदसगुन कहि जिनपति निरधार ॥१२०॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टी, देशव्रती श्रावक और महाव्रतियोंके भेदसे आगम में रुचि रखनेवालोंके भेदसे और तत्त्वोंके विचार करनेवालोंके भेदसे भगवान जिनेन्द्रदेवने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्यपात्र हैं। इनमें भी मुनियोंमें अनेक भेद हैं श्रावकोंमें अनेक भेद हैं और अविरत सम्यग्दृष्टियोंमें अनेक भेद हैं। इस प्रकार पात्रोंके अनेक भेद हैं।

उवसम णिरीह झाणज्झयणाइमहागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥ १२१ ॥

उपशमध्यानाध्ययन महा अनिच्छक दिष्ट।
जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहे उत्कृष्ट ॥१२१॥

अर्थ—उपशम परिणामोंको धारण करनेवाले, बिना किसी इच्छाके ध्यान करनेवाले तथा अध्ययन करनेवाले मुनिराज उत्तमपात्र कहे जाते हैं। मुनियोंके इन महा

अविरत देश महाविरत श्रुति रुचिरत विचार।
पात्र नु अंतर सहसगुन कहि जिनपति निरधार ॥१२०॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टी, देशव्रती श्रावक और महाव्रतियोंके भेदसे आगम में रुचि रखनेवालोंके भेदसे और तत्त्वोंके विचार करनेवालोंके भेदसे भगवान जिनेन्द्रदेवने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्यपात्र है। इनमें भी मुनियोंमें अनेक भेद हैं श्रावकोंमें अनेक भेद हैं और अविरत सम्यग्दृष्टियोंमें अनेक भेद हैं। इस प्रकार पात्रोंके अनेक भेद हैं।

उवसम णिरीह झाणज्झयणाइमहागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥ १२१ ॥

उपशमध्यानाध्ययन [redacted] अर्थंष्टक दिए।
जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहे उत्कृष्ट ॥१२१॥

अर्थ—उपशम परिणामोंको धारण करनेवाले, विना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले [redacted] अध्ययन करनेवाले मुनिराज उत्तमपात्र कहे जाते हैं। मुनियोंके इन महा गुणोंकी जैसी जैसी वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे पात्रताकी उत्कृष्टता उनमें आती

णत्ति जाणइ जिणसिद्धसरूव त्तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ॥ १२४ ॥

नहि जाने जिन सिद्ध अरु निज स्वरूप त्रिविधे हि।
सो तप तीव्र करे तऊ भ्रमे दीर्घ भव सेह ॥ १२४ ॥

अर्थ—जो मुनि न तो भगवान अरहंत देवका स्वरूप जानता है, न भगवान सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप जानता है और न बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे अपने आत्माका स्वरूप जानता है वह मुनि यदि तीव्र तपश्चरण करे तो भी वह इस जन्म मरण रूप महासंसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करता है।

भावार्थ—पंच परमेष्ठिका तथा आत्माका स्वरूप जानना सम्यग्दर्शनका साधन है। जो इनका स्वरूप नहीं जानता वह सम्यग्दर्शनको भी प्राप्त नहीं कर सकता। तथा बिना सम्यग्दर्शनके तीव्र तपश्चरण करने पर भी वह संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है।

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तये ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं। १२५ ॥

भी वृथा जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और तप दोनों ही संसारके कारण समझने चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाला ज्ञान और तप मोक्षका कारण है, बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान और तप दोनों ही मिथ्या कहलाते हैं। तथा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या तप दोनों ही संसारके कारण हैं।

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं पडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं ॥१२७॥

व्रतगुणशील परीषजय आवसि तप चारित्र।
ध्यानध्यन सम्यक्त्व बिन भवह बीज सवत्र ॥१२७॥

अर्थ—बिना सम्यग्दर्शनके व्रत पालन करना, गुप्ति समिति पालन करना, शील पालन करना, परीषहोंको जीतना, चारित्रका पालन करना, तपश्चरण करना, छहों आवश्यकोंका पालन करना, ध्यान करना और अध्ययन करना आदि सब संसारके कारण ही समझना चाहिये।

भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ये सब मिथ्या हैं, इसलिये बिना सम्यग्दर्शनके ये सब संसारके कारण हैं।

भी क्या लाभ है। शुद्ध सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और तप दोनों ही संसारके कारण समझने चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाला ज्ञान और तप मोक्षका कारण है, बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान और तप दोनों ही मिथ्या कहलाते हैं। तथा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या तप दोनों ही संसारके कारण हैं।

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं षडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीयं ॥१२७॥

व्रतगुणशील परीषजय आवसि तप चारित्र।
ध्यानाध्यन सम्यक्त्व बिन भवह बीज सर्वत्र ॥१२७॥

अर्थ—बिना सम्यग्दर्शनके व्रत पालन करना, गुप्ति समिति पालन करना, शील पालन करना, परीषहोंको जीतना, चारित्रका पालन करना, तपश्चरण करना, छहों आवश्यकोंका पालन करना, ध्यान करना और अध्ययन करना आदि सब संसारके कारण ही समझना चाहिये।

भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ये सब मिथ्या हैं, इसलिये बिना सम्यग्दर्शनके ये सब संसारके कारण हैं।

फग्गादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण ।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ॥१२९॥

कर्मादिक विभाव, स्वभावेह गुणवगुण ।
रुचे शुद्ध निज भाव, निहं निश्चै निरवान हुइ ॥१२९॥

अर्थ—जो मुनिराज कर्मोंके उदयसे होनेवाले आत्माके वैभाविक गुणोंका (राग-द्वेष मोह मद मत्सर कषाय आदि भावोंका) चिंतवन करता है तथा उन कर्मोंके नाश होनेसे प्रगट होनेवाले उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदि आत्माके स्वाभाविक गुणोंका चिंतवन करता है। इन दोनोंके यथार्थ स्वरूपका चिंतवनकर जिसको अपने शुद्ध आत्मामें प्रेम होता है, जो अपने शुद्ध आत्माका श्रद्धान करता है उसको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को ।
आसववंधणसंवरणिज्जर जाणेह किं बहुना ॥१३०॥

मूल उत्तर उत्तरउत्तर द्रव्यकर्म नाहि भाव ।
आस्रव संवर निर्जरा बंध जानि [illegible] भाव ॥१३०॥

अर्थ-ज्ञानावरणादिक कर्म द्रव्यकर्म कहलाते हैं, उनकी मूल प्रकृतियां ज्ञानावरणादिक हैं और उत्तरप्रकृतियां मतिज्ञानावरण आदि हैं। अवग्रह ईहा अवाय धारणा या स्मरण चिंता आदिको आवरण करनेवाले कर्मोंको उत्तरोत्तर प्रकृतियां कहते हैं। जो मुनि मूलप्रकृति उत्तरप्रकृति तथा उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्य-कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं और राग द्वेष आदि भावकर्मोंसे भी सर्वथा रहित हैं वे ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
वहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं बहुणा ॥ १३१ ॥

विषयविरत मुंचत,विषय शक्त न मुंच मुनीश।
बहिरंतर परमातमा भेद जानि बहु धीश ॥ १३१ ॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है वह इस द्रव्यकर्म और भाव-कर्मसे छूट जाता है तथा जो मुनि विषयासक्त है वह इन कर्मोंसे कभी नहीं छूट सकता। इसलिये हे मुनिराज! बहुत कहनेसे क्या लाभ है आत्मा जो बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे तीन प्रकार है पहले उसका स्वरूप समझ।

वाले मनुष्य किंपाकफलको नहीं खाते वा विष मिले लड्डुओंको नहीं खाते उसीप्रकार अक्षय सुख चाहने वाले जीवोंको इन्द्रियोंके सुखोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये आत्माका कल्याण इसीसे हो सकता है।

देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥ १३५ ॥

तन कलत्र सुत मित्र बहु चेतनरूप विभाव।
भजत आतमरूप सो बहिरातमा कहाव ॥ १३४ ॥

अर्थ—जो जीव इस शरीरको आत्मस्वरूप मानता है, स्त्री पुत्र मित्र आदिको अपने आत्मस्वरूप मानता है अथवा राग द्वेष मोह आदि आत्माके वैभाविक परिणामोंको आत्मस्वरूप मानता है वह आत्मा अवश्य ही बहिरात्मा है।

भावार्थ—शरीर पुत्र मित्र कलत्र आदि सब इस आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं। राग द्वेष आदि वैभाविक परिणाम भी आत्मासे भिन्न हैं क्योंकि वे कर्मके उदयसे होते हैं। जिसप्रकार स्फटिक पाषाणके पीछे लाल फूल रख देनेसे उस पाषाणमें लाली दिखाई देती है परंतु वह लाली उस पाषाणसे सर्वथा भिन्न है। इसीप्रकार राग द्वेषादि

किंपाकफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिव चारुसुहं ।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं पि ॥१३३॥

अर्थ—[illegible] होता है जो देखनेमें [illegible] और खानेमें [illegible] होता है। [illegible] हो मीठा और सुंदर हो जाता है। [illegible] है [illegible] जाता है। जिसप्रकार किंपाकफल [illegible] देखनेमें सुंदर होता है उसीप्रकार इन्द्रि[illegible] होते हैं और उस समय अच्छे [illegible] मनुष्य दुःख भोगता है और [illegible] अनेक प्रकारके दुःख भोगते [illegible] है। अथवा विष मिले हुए लाडू [illegible] उसीप्रकार ये इन्द्रियोंके सुख हैं। [illegible] इन्द्रियोंके सुखोंका फल भी [illegible] जाता है। इसलिये जिसप्रकार सुख पानेके

जो विचार ही नहीं करता वह आत्मतत्त्वका स्वरूप वा जीवादिक समस्त पदार्थोंका स्वरूप कभी नहीं जान सकता। ऐसे अज्ञानी जीवको बहिरात्मा कहते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियजन्यसुख नरक निगोदके कारण हैं। जो मनुष्य केवल इन्हींमें लीन रहता है और इनमें लीन रहनेके कारण आत्मतत्त्वको भी नहीं जान सकता उसे आचार्योंने बहिरात्मा ही बतलाया है।

जं जं अक्खाणसुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥१३६॥

अर्थ—संसारमें इन्द्रियजन्यजितने सुख हैं वे सब इस आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इसप्रकार जो मनुष्य इन इन्द्रियजन्य विषयोंके स्वरूपका चिंतवन नहीं करता वह बहिरात्मा कहलाता है।

भावार्थ—जिस पदार्थका जैसा स्वरूप है उसका उसीरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय जन्य सुखोंका स्वभाव आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इस बातको सब कोई जानता है। परन्तु जो अज्ञानी इन सुखोंका स्वरूप कभी चिंतवन नहीं करता तथा बिना इनका स्वरूप जाने सदा इनमें लीन रहता है वह मिथ्यादृष्टी है और इसीलिये वह बहिरात्मा कहलाता है।

सपनेहु न भुंजइ विषय भिन्न मान देहान ।

[illegible] निजातम भुंज चिरसुखमें मगन महान ॥१८॥

अर्थ—जो आत्मा अपने आत्माको शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न मानता है तथा जो विषयोंका अनुभव कभी स्वप्नमें भी नहीं करता। जो सदा अपने आत्माका अनुभव करता रहता है और मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है। उसे मध्यम आत्मा अथवा अंतरात्मा कहते हैं।

भावार्थ—जो आत्माके निज स्वरूपको जानता है और इसीलिये जो शुद्ध सम्यग्दृष्टी है, जिसने इन्द्रियजन्य सुखोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न और तीव्र दुःख देनेवाले समझा है इसीलिये जो इन विषयोंका कभी सेवन नहीं करता। वह केवल अपने आत्मा को ही अपना समझता है अतएव उसीका सदा अनुभव करता रहता है तथा मोक्षके अनंत सुखको प्राप्त करनेकी सदा लालसा करता रहता है उसके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है और उसीकी सदा भावना रखता है। एक प्रकारसे तो कहना चाहिये कि उसी मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है ऐसा शुद्ध सम्यग्दृष्टी अंतरात्मा कहलाता है।

कर्मका उदय बना रहता है तबतक विषयवासनाका त्याग सर्वथा नहीं होता। अनादिकालसे लगी हुई वह वासना बनी रहती है। वह वासना चारित्र मोहनीय कर्मके नाश होनेपर नष्ट होती है।

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाणसुहं कहंपि अणुहवइ।
केणावि ण परिहारण वाहणविणासणट्ठ भेसज्जं ॥१४०॥

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अक्षसुख कैसे अनुभव होइ।
कहु विधि परिहार नहि रुजहर मरि हि कोइ ॥ १४० ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके सुखोंको अनिच्छा पूर्वक किसी भी प्रकारसे अनुभव करते हैं, जिसप्रकार कोई पुरुष रोगको दूर करनेके लिये औषधिका सेवन करता है उसीप्रकार वह सम्यग्दृष्टी पुरुष उन विषयोंका अनुभव करता है। जिसप्रकार औषधिका सेवन करना किसीको इष्ट नहीं है, औषधिका सेवन करना सब बुरा समझते हैं तथापि रोगके हो जानेपर उसका सेवन करना ही पड़ता है। यह औषधिका सेवन [illegible] इच्छापूर्वक नहीं होता तथापि जबतक रोग है तबतक उसका त्याग भी नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष विषयोंके सेवन करने

को बुरा समझता है तथापि जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है तबतक उन विषयोंका सेवन करना ही पड़ता है। यद्यपि वह उन विषयोंका सेवन इच्छा पूर्वक नहीं करता तथापि जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है तब तक उनका त्याग भी नहीं कर सकता। चारित्रमोहनीयकर्मका जब मंदोदय होता है तभी विषयोंका त्याग होता है।

किं वहुणा हो तजि वहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४१ ॥

बहुत कहा कहि त्यागि तजि सर्व भाव बहिरात।
वस्तुस्वरूप स्वभावमय भजि मध्यम परमात ॥ १४१ ॥

अर्थ—हे भव्य जीव! बहुत कहनेसे क्या लाभ है। थोड़ेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि वहिरात्माके स्वरूपको धारण करनेवाले जितने भाव हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये और मध्यम आत्मा तथा परमात्माके जो यथार्थ स्वभाव हैं उन सबको धारण कर लेना चाहिये।

भावार्थ—वहिरात्माके भाव धारण करना तीव्र दुःखके कारण हैं इसलिये

मोक्खगइगमणकारणभूयाणि पसत्थपुण्णहेऊणि।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४२ ॥

शिवगतिगमकारण जनत पुण्यप्रशस्तह हेत।
सो दो विधि आतम दरब भावसरूप समेत ॥ १४२ ॥

अर्थ—अंतरात्मा और परमात्माके जो वास्तविक भाव होते हैं वे मोक्षगतिमें पहुंचनेके कारण होते हैं और अतिशय पुण्यके कारण होते हैं।

भावार्थ—अंतरात्मा जीवके भाव साक्षात् पुण्यके कारण होते हैं और परंपरासे मोक्षके कारण होते हैं। इन्द्र धरणेन्द्र गणधर आदि महा पुरुषोंके पद अंतरात्माको ही प्राप्त होते हैं तथा अंतमें तीर्थंकर या अन्य केवलीपद पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। परमात्मा उसी भवमें सिद्ध पद प्राप्त करता है तथा साथमें समवसरण या गंधकुटी-की अनुपम विभूतिका अनुभव करता जाता है। यह उसके सातिशय पुण्यकी महिमा है। इसलिये अंतरात्मा बनकर परमात्मा बननेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे शीघ्र ही मोक्षपदकी प्राप्ति हो।

मिश्र इति बहिरात्मा कोऽपि शुद्धिः जघन्य ।

मध्य संत उत्तम इतरा परमसिद्ध जिन मध्य ॥ १४६ ॥

अर्थ— पहले दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें रहने वाले जीव बहिरात्मा हैं। चौथे गुणस्थानमें रहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अंतरात्मा हैं। फिर पांचवे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ऊपर ऊपर चढते हुए अधिक अधिक विशुद्धि धारण करते हुए मध्यम अंतरात्मा हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अंतरात्मा हैं। तेरहवें चौदहवे गुणस्थानवर्ती केवली भगवान सकलपरमात्मा हैं और सिद्धपरमेष्ठी निकलपरमात्मा हैं।

मूढत्तयसल्लत्तयदोसत्तयदंडगारवत्तयेहिं ।

परिमुक्को जोइ सो सिवगइपहणायगो होइ ॥१४७॥

मूढत्रयशल्यत्रयदोषत्रयदण्डगारवत्रयैः ।

सो योगी इनतें रहित नायकः पथगति भोप ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो योगी देव मूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता इन तीनों मूढताओंसे रहित है, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंसे रहित है, राग द्वेष और

जानना अत्यावश्यक है। परमात्माका स्वरूप जाने विना उसका ध्यान नहीं हो सकता। तथा परमात्माका ध्यान किये विना [redacted] आत्मा परमात्मा बन नहीं सकता। अतएव इस आत्माको परमात्मा बननेके लिये परमात्माका स्वरूप जानकर उसका ध्यान करना चाहिये। जो भव्यजीव इसप्रकार परमात्माका ध्यान करता है वह अवश्य ही मोक्ष पहुंचता है।

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥ १४५ ॥

बहिरंतर जिय परसमय कहे जिनेश्वर देव।
परमातम स्वसमय यह भेद गुगुन ठानेव ॥ १४५ ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवने बहिरात्मा और अंतरात्माको परसमय बतलाया है तथा परमात्माको स्वसमय बतलाया है। इनके विशेष भेद गुणस्थानोंकी अपेक्षा से समझ लेने चाहिये। सो ही आगे बतलाते हैं।

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
संतोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ॥ १४६ ॥

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ॥ १४९ ॥

बहिरभ्यन्तरग्रन्थ विमुक्तः शुद्धोपयोग संयुक्तः ।
मूलोत्तरगुणपूर्णः शिवगति पथ नायकः भवति ॥ १४९ ॥

अर्थ-जो मुनि बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित है, जो सदा शुद्धोपयोगमें लीन रहता है और जो मूलगुण और उत्तर गुणोंको पूर्ण रीतिसे पालन करता है वह मुनि अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

जं जाइजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं ।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणइ साहए साहू ॥१५०॥

यत् जातिजरामरणं दुःखदुष्टविषाहिविषविनाशकरं ।
शिवसुखलाभं सम्यक्त्वं संभावयति शृणोति साधयति साधुः ॥१५०॥

अर्थ- मोक्षको सिद्ध करनेवाले हे साधु ! सुनो और इसकी भावना करो कि यह सम्यग्दर्शन जन्म मरण और बुढ़ापा आदिके समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला है और समस्त विषोंको दूर करनेवाला है और सर्प बिच्छू आदिके समस्त विषोंको दूर

करनेवाला है। इसके सिवाय यह सम्यग्दर्शन मोक्षसुखको प्राप्त करानेमें प्रधान कारण है यह निश्चय जानो।

किं बहुणा हो देविंदाहिंदणरिंदगणधरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाण सम्मगुणं ॥ १५१ ॥

बहुत कहा कहिं इंद्र फनिंद इंद नरिंद गणिंद।
पूज परम आतम जिके समकित प्रधान विद ॥ १५१ ॥

अर्थ—बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि भगवान अरहंत परमात्मा और सिद्धपरमात्मा जो देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और गणधर देवादिकके द्वारा पूज्य हुए हैं सो सम्यग्दर्शन गुणकी प्रधानतासे ही हुए हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे ही अरहंत और सिद्धपरमेष्ठी पद प्राप्त होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनको धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

उवसमईसम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लए तस्स।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥ १५२ ॥

अनेककाल तक बराबर संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है । संसारसे पार कर देने वाला एक सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शनके सिवाय अन्य किसीसे भी मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

वसदीपडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंघजाइकुले ।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते कप्पडे पुत्थे ॥१६१॥
पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ॥ १६२ ॥

वसन पडिम उपकरण गुण, गच्छसमय संघ जाति ।
कुल शिर प्रतिशिष छात्र सुत, जात सुपट पुथभाति ॥ १६१ ॥
पिच्छि सांथरउ त्यागमुख, लोभ करइ ममकार ।
तावत आरत रुद्र सुख नहिं, मुंचत अनगार ॥ १६२ ॥

अर्थ वसतिका, प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, समय, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, विद्यार्थी, पुत्र, पौत्र, कपड़े पुस्तक, पीछी, संस्तर (बिछोना) इच्छा आदिमें लोभसे जो साधु ममत्व करता है तथा ममत्व करनेके कारण जबतक आर्तध्यान और रौद्र-

पद्य-

१२१

भावार्थ—श्रुतज्ञान वा भगवान अरहंतदेव प्रणीत शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। आत्माके ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे वैराग्य संयम और सम्यग्ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार इन सबका मूलकारण शास्त्रोंका अभ्यास है। इसलिये भव्यजीवोंको सबसे पहले शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये।

कालमणंतं जीवो मिच्छसरूवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लहइ सम्मं संसारब्भमणपारंभो ॥ १५७ ॥

काल अनंतहु जीव यह, भूषा पंचसंसार।
हिंडे सम्यक्त्व ना लहै, भवभव भ्रमण प्रकार ॥ १५७ ॥

अर्थ—अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाला यह जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनमय संसारमें परिभ्रमण करता आया है। इस अनंतकालमें भी इस जीवको अबतक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे फिर यह जीव पंच परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण नहीं करता; परंतु यह जीव बराबर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। इससे सिद्ध होता है कि इसको अभी तक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

सार-

१२१

जिणलिंग परो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ।
परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होई ॥ १६४ ॥

जिन लिंगी जोगी सुगुन, सम्यक्ज्ञान विराग ।
परम विरागी संयमी, पदनायक होई जाग ॥ १६४ ॥

अर्थ—जिस मुनिने जिनलिंग धारण किया है, नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की है, जो आत्मज्ञानसे परिपूर्ण है, परम वैराग्य को धारण करता है, जिसका सम्यग्दर्शन अत्यंत शुद्ध है और जो रागद्वेषसे सर्वथा रहित है, उत्कृष्ट उपेक्षाभाव व वीतरागभावको धारण करता है ऐसा मुनि मोक्षका स्वामी अवश्य होता है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनकी अत्यंत शुद्धता, दिगम्बर अवस्था और परम वैराग्य मुक्तिके साक्षात् कारण हैं ।

ध्यान करता है तब तक क्या वह मोक्षके सुखसे वंचित नहीं रहता? नहीं नहीं; वह अवश्य वंचित रहता है।

भावार्थ—जो मुनि किसीसे भी ममत्व करता है वह मोक्षके सुखसे अवश्य वंचित रहता है उसे मोक्षका सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥१६३॥

रत्नत्रय ही गण रु गच्छ, गमन करन शिवपंथ।
संघ समूह सु गुणसमय, निर्मल आतम ग्रंथ ॥ १६३ ॥

अर्थ—मोक्ष मार्गमें गमन करने वाले साधुका रत्नत्रय ही गण और गच्छ है तथा गुणोंका समूह ही संघ है और निर्मल आत्मा ही समय है।

भावार्थ—साधुओं को रत्नत्रयमें, उत्तम क्षमा आदि गुणोंसे और निर्मल आत्मासे प्रेम करना चाहिये। इनमें सर्वथा लीन हो जाना चाहिये। यही साधुका गण है यही संघ है और यही समय है इन्हींमें लीन होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

१६४ जिणलिंगधरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ।

१६८ परमोपेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होइ ॥ १६४ ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥ १६४ ॥

अर्थ—जिस मुनिने जिनलिंग धारण किया है नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की है, जो आत्मज्ञान सहित है एवं वैराग्य को धारण करता है, जिसका सम्यग्दर्शन अत्यन्त दृढ़ है और जो रत्नत्रय सर्वथा सहित है, उत्कृष्ट उपेक्षाभाव व वीतराग[illegible] करता है वह मुनि मोक्षका स्वामी अवश्य होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनकी अत्यन्त दृढ़ता, दिगम्बर अवस्था और परम वैराग्य ये तीन मोक्षप्राप्तिके साक्षात् कारण हैं।

[illegible] गिरिंदविच्चिरियं ।

गुण[illegible] ॥ १६५ ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥ १६५ ॥

इदं सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं ॥ १६७ ॥

रयणसार यह मह सज्जन ग्रंथ निरालस नित्ति।
पढ़ै सुनइ जो वर्णये भावइ लहइ निर्वृत्ति। ॥ १६७ ॥

अर्थ—यह रयणसार नामका ग्रंथ बड़े बड़े सज्जनोंके द्वारा पूज्य है ऐसे इस ग्रंथको जो पुरुष आलस छोड़कर प्रतिदिन पढ़ता है सुनता है, और इसकी भावना करता है इसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति करता है वह अविनश्वर मोक्ष स्थानको अवश्य प्राप्त होता है।

रयणसार समाप्त

स्वाध्यायोपयोगी ग्रन्थ

ग्रंथोंके नाम	मूल्य	ग्रंथोंके नाम	मूल्य
द्वादशानुप्रेक्षा भाषाटीका सहित	।~)	रयणसार भाषाटीका	॥।)
पात्रकेशरी स्तोत्र भाषा टीका सहित	।≈)	रविव्रतकथा	~)॥
परीक्षामुख	॥)	भक्तामरस्तोत्र	~)
जैनपदसागर	१)	सामायिक आलोचनापाठ	~)
भद्रयापूजा संग्रह संस्कृत भाषा दोनों	१।)	तत्त्वार्थसूत्रमूल	~)॥
चतुर्विंशतिजिनपूजा कविरामचन्द्रकृत	१)	पंचमंगल	~)
सार्थ नित्य नियम पूजा	॥)	शीलकथा	।)
विनतीसंग्रह	≈)	दर्शनकथा	।)
छहढालासंग्रह तीनों छहढाले एकसाथ	≡)	दानकथा	≈)
न्यायबोधक सरल भाषामें	≈)		

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था।

नं० १७२ अपर चितपुर रोड, कलकत्ता।